ISSN 2454-7131

अनुसृजन

(अनुवाद अध्ययन विभाग की त्रैमासिक द्विभाषी ई-पत्रिका)

ISSN 2454-7131
Online

जुलाई-दिसंबर, 2017 (संयुक्तांक)
अंक - 6

अनुवाद अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

ज्ञान शांति मैत्री

ISSN 2454-7131

अनुसृजन

अनुवाद अध्ययन विभाग की त्रैमासिक द्विभाषी ई पत्रिका

अंक -6, जुलाई- दिसंबर, 2017 (संयुक्तांक)

संरक्षक

प्रो० गिरीश्वर मिश्र, कुलपति

मार्गदर्शक

प्रो० आनंद वर्धन शर्मा

प्रो० देवराज

प्रो० कृष्ण कुमार सिंह

संपादक

डॉ० राम प्रकाश यादव

टंकण व फॉण्ट सहयोग

जयंतीलाल न. राठौर, विजय करन

मुख्य पृष्ठ

राजेश आगरकर

प्रकाशक: अनुवाद अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

(प्रकाशित सामग्री से संपादक/ प्रकाशक की सहमति आवश्यक नहीं।)

न्याय क्षेत्र: वर्धा

E-Mail: rampy79@gmail.com, aanusrujan@gmail.com

ISSN 2454-7131

संपादकीय

तकनीकी विकास का यह दौर मनुष्य को साहित्य से दूर ले जा रहा है। समाज को इन नवीन परिस्थितियों में यह संबंध फिर से नियोजित करने की आवश्यकता है। हमारी पीढ़ी बहुत तेजी से एक मशीनी पीढ़ी बनने की ओर अग्रसर है। प्रातः आँखें खोलते ही प्रकृति से पहले मशीन से ही हमारा साक्षात्कार होता है। हमारी बहुविध आवश्यकताओं से लेकर मनोरंजन तक सभी इसी के इर्द –गिर्द संचालित हो रही हैं। मनुष्य की मशीन पर निर्भरता अप्रत्याशित रूप से बढ़ी है। संवेदनशून्यता इस मशीनी पीढ़ी की पहचान है। जटिल समूहों के हिततंत्र द्वारा नियोजित प्रचार सामग्री (जिसमें अधिकांशतः अफवाहें होती हैं) हमारे सामने परोस दी जाती हैं। मानव मन को नियंत्रित करने का यह नया चलन है।

साहित्य आज अपनी भूमिका निभाने में कहीं पीछे रह जा रहा है। देश के कर्णधार तैयार करने में व्यवस्था विफल हो रही है। हमारे पास विश्व के श्रेष्ठ प्रबंध संस्थान हैं, परंतु मानव संसाधन के प्रबंधन, कृषि व रोजगार का प्रबंधन अभी भी राष्ट्र के लिए एक सपना है। आय की असमानता, खाद्यान्न प्रबंधन का न होना, गुणवत्ता युक्त सस्ते भोज्य पदार्थों की अनुपलब्धता, पेयजल संकट, शिक्षा की सहज सुलभता का न होना आदि ऐसे चुनौती भरे क्षेत्र हैं, जो लोकतंत्र को कमजोर करते हैं। भ्रष्टाचार और भाई- भतीजावाद एक अनकहे गृहयुद्ध की ओर देश को ले ही जा रहे हैं। जनता की खून- पसीने की कमाई से पोषित बैंकों में अरबों- खरबों के घोटाले इस विकासशील देश को विकसित करने के सपनों में सेंध लगा रहे हैं। तमाम आश्वासनों के बावजूद अर्थव्यवस्था को सतत कमजोर करने का क्रम जारी है।

हाशिए के लोगों, बच्चों व महिलाओं के प्रति नित्य बढ़ते अत्याचार ने हमारी सभ्यता व संस्कृति की सुदीर्घ परंपरा को क्षति पहुंचाई है। हम अच्छी शिक्षा व संस्कार नहीं देंगे तो दुर्जन ही निर्मित होंगे। साहित्य को अब अपनी भूमिका निभाने के लिए सन्नद्ध होना चाहिए। अंधविश्वास, चेतनाशून्यता, जड़ता व परस्पर द्वेष के विरुद्ध मैत्री, प्रगतिशीलता एवं चेतना का नया साहित्य लिखे जाने की आवश्यकता है। बुद्धजीवियों एवं लेखकों को निराश होने की नहीं, सकारात्मक प्रयास करने, संगठित होने व दीप से दीप जलाने की आवश्यकता है।

ISSN 2454-7131

इसी आशा भरे मन से पाठकों के समक्ष अनुसृजन का छठा अंक समर्पित कर रहा हूँ। भाषा और साहित्य से जुड़े लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने अपनी लेखनी से अनुसृजन के इस अंक हेतु अपना अमूल्य उदारतापूर्ण सहयोग दिया है। अनुवाद अध्ययन विभाग इस अंक में सहयोग प्रदान करने वाले सभी लेखकों को हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता है।

सुधी पाठकों के सुझावों व प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा रहेगी।

(डॉ. राम प्रकाश यादव)

ISSN 2454-7131

अनुक्रमणिका

भाषा विज्ञान

कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान और उसके अनुप्रयोग	प्रो० कृष्ण कुमार गोस्वामी	06
कंप्यूटर और हिंदी	डॉ० राम प्रकाश यादव	13

मंथन

हिंदी पट्टी में आलोचनात्मकता का अवसान	प्रो० शम्भु गुप्त	17
राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के विकास में अनुवाद की भूमिका	प्रो० देवराज	34
अनुवाद की राजनीति	डॉ० हरीश कुमार सेठी	43

सिनेमा

भारतीय सिनेमा और टैगोर	डॉ० एम० वेंकटेश्वर	53

भाषांतर

चितले मास्टर	पु. ल. देशपांडे	69
तूफ़ान	Franz Hohler	86
गाय और कंपनी	पराशर कुलकर्णी	91
तीन कविताएँ	वाहरु सोनोने	106
पोरुनाट्रुप्पडै	मुड्त्तामक्कण्णियार	113
कृत्रिम चेहरा	डॉ. लैशाङथेम तोन्दोन सिंह	117

कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान और उसके अनुप्रयोग
(हिन्दी के विशेष संदर्भ)

प्रो. कृष्ण कुमार गोस्वामी

कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान भाषा का वह वैज्ञानिक अध्ययन है जो कंप्यूटर के परिप्रेक्ष्य में होता है। इसमें भाषिक परिघटनाओं के विभिन्न प्रकारों का कंप्यूटरीकृत मॉडल तैयार किया जाता है जो ज्ञान-आधारित अथवा डाटा-संचालित होता है। यह भाषाविज्ञान की अनुप्रयुक्त शाखा है जिसमें मानव भाषा की कंप्यूटरीकृत प्रौद्योगिकी के विकास के लिए भाषाविज्ञान के नियमों और प्रक्रिया का अनुप्रयोग होता है। प्रकृत भाषा संसाधन की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए भाषायी सिद्धांतों और कंप्यूटरीकृत तकनीकों का अनुप्रयोग कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान है। इसके अंतर्गत प्रकृत भाषा को संप्रेषण के माध्यम के रूप में देखा जाता है। इस दृष्टि से मानव की मशीन से अंतरक्रिया (interaction) होती है और मशीन की मानव से। मानव-मशीन की इस अंतरक्रिया का संबंध संप्रेषण से है और कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान इसका अनुसंधान और विकास करता है। इस अंतरक्रिया में कंप्यूटर प्रणाली के अनुप्रयोग को साधने के दो पक्ष हैं – एक, कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान का सैद्धांतिक पक्ष जिसमें भाषायी ज्ञान के बारे में रूपपरक (morphological) सिद्धांत प्रतिपादित किए जाते हैं। इसमें मानव को भाषा के प्रजनन और समझने की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त इसमें भाषायी मॉडलों का परीक्षण होता है जिसे भाषा-सिद्धांत परीक्षण कहते हैं। दूसरा, कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान, भाषाविज्ञान का प्रायोगिक पक्ष है जो मानव भाषा प्रयोग के प्रतिरूपण (modelling) के व्यावहारिक निष्कर्ष पर केंद्रित होता है। मानव-मशीन अंतरक्रिया से संबंधित क्षेत्रों में उठने वाली भाषायी समस्याओं के लिए भाषिक सिद्धांतों और पद्धतियों का प्रयोग होता है जो उपभोक्ता-सापेक्ष होता है। इसकी पद्धति, तकनीक, उपकरण और अनुप्रयोग प्राय: भाषा अभियांत्रिकी (language engineering) के अंतर्गत आते हैं। इस दृष्टि से यह एक प्रकार की भाषा अभियांत्रिकी है। प्रकृत भाषा संसाधन, कृत्रिम बुद्धि, अर्थविज्ञान आदि के योग से जो व्यापक नेटवर्क तैयार होता है उससे भाषायी सिद्धांतों का मशीनी परीक्षण और प्रतिपुष्टि (feedback) होती रहती है। यहाँ यह भी उल्लेख करना उचित होगा कि कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान को भाषाविज्ञानी अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान की श्रेणी में रखते है और कंप्यूटर-विज्ञानी इसे एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्वीकार करते हैं। भाषाविज्ञानियों का मत है कि मानव-मशीन अंतरक्रिया के परिप्रेक्ष्य में कंप्यूटर प्रणाली से उठने वाली भाषायी समस्याओं के समाधान के लिए भाषिक सिद्धांतों और पद्धतियों को उपभोक्ता के रूप में काम में लाया जाता है। इसमें प्रकृत भाषा संसाधन के लिए

ISSN 2454-7131

भाषावैज्ञानिक सिद्धांत, प्रक्रिया और नियमों का अनुप्रयोग होता है। ध्वनि-प्रक्रिया, रूप-रचना, वाक्य-विन्यास, प्रोक्ति-संरचना और अर्थ-संरचना का कंप्यूटर संसाधन किस प्रकार होता है, इसको समझने के लिए कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान सहायक होता है। कंप्यूटर विज्ञानी कंप्यूटर प्रणाली का वह अध्ययन मानता है जिसमें प्रकृत भाषा को समझा तथा प्रजनित किया जाता है और इसलिए यह कंप्यूटर विज्ञान का ही क्षेत्र है।

मानव और मशीन के बीच के संबंधों की समस्या काफी पुरानी है किंतु स्वचालित कंप्यूटिंग मशीन के उद्भव के बाद इसमें एक नया आयाम जुड़ा है। इस मशीन की प्रकार्यात्मक क्षमता से हमारी अवधारणा में एक और विस्तार हुआ है कि मशीन क्या-क्या कर सकती है? एक ओर मस्तिष्क के समानांतर-रूप कंप्यूटर के बारे में यह प्रश्न उठता है कि 'क्या मशीन सोच सकती है'। और कंप्यूटर के समानांतर-रूप मस्तिष्क के बारे में यह प्रश्न उठता है कि 'क्या मानव को मशीन के सदृश माना जा सकता है। इन प्रश्नों के उत्तर में मानव और मशीन का संबंध निकटतर होता गया और उनकी प्रकार्यात्मक समानताओं और असमानताओं का गहन अध्ययन प्रारंभ हो गया। एक अमरीकी गणितज्ञ ए. एम. तुरिंग ने भी सन् 1936 में व्यवहारवादी शब्दों में यही प्रश्न उठाया था कि 'क्या कंप्यूटर सोच सकता है' अर्थात 'क्या कंप्यूटर मनुष्य की भाँति वैसा ही व्यवहार कर सकता है जैसा कि मनुष्य को करने के लिए कहा जाए'। तुरिंग ने 'अनुकरण क्रीड़ा' की संकल्पना प्रस्तुत की जिसमें प्रश्नकर्ता के उत्तर देने के संदर्भ में कंप्यूटर की तुलना मानव से की गई है। यदि प्रश्नकर्ता यह निश्चित नहीं कर पता कि वह मानव से बातचीत कर रहा है अथवा मशीन से तो यह समझा जा सकता है कि मशीन मानव की भाँति व्यवहार कर रहा है। तुरिंग काफी आशावादी थे और यही कारण है कि उनकी भविष्यवाणी पचास वर्ष के अंतराल में साकार हो उठी जो उन्होंने अपनी 'अनुकरण क्रीड़ा' में देखी थी।

तुरिंग की यह भविष्यवाणी वास्तविकता में तब आने लगी जब नोअम चॉम्स्की ने सन् 1957 में परिमित अवस्था व्याकरण (Finite State Grammar) की अवधारणा प्रस्तुत की कि ऐसा व्याकरण सीमित शब्दावली पर परिचालित पुनरावर्ती नियमों (recursive rules) की परिमित संख्या के माध्यम से वाक्यों का असीम समुच्चय प्रजनित करने में समर्थ है। उनका मूलभूत दर्शन था- मशीन या युक्ति (device) की भाँति व्याकरण, सीमित अंतरालों में वाक्यों का प्रजनन कर सकता है। उदाहरण के लिए;

मेरे भाई		दो	सेब	खाए
उसके मित्र	ने	चार	केले	माँगे
तुम्हारी बहन		तीन	सूट	खरीदे
इस लड़के	ने	कितने	आम	बेचे
आपके पिता जी		क्या	बात	कही

इस उदाहरण से हम देखते हैं कि इस परिमित ऑटोमेटा की वाक्यपरक संरचना भाषिक सिद्धांत के विकास के लिए आधार के रूप में कंप्यूटर की यांत्रिक स्थिति प्रस्तुत करती है, हालांकि चाम्स्की ने भाषिक अध्ययन के कंप्यूटर के यांत्रिक पक्ष को अस्वीकार किया था किंतु बाद में उन्होंने रूपवाद की कंप्यूटरीकृत (अभिकलनात्मक) प्रक्रिया और गणितीय विशेषताओं की प्रकार्यात्मकता को स्वीकार किया था। उन्होंने 1982 में भाषा की कंप्यूटरीकृत विशेषताओं का भी उल्लेख किया था। रूपकृत नियमों के साकार रूप के कारण यह उपेक्षा की जाती है कि कंप्यूटर अधिक से अधिक नियम अपने भीतर समेट लेता है। इसी में चाम्स्की का संदर्भ-मुक्त व्याकरण भी शामिल है। इसी दौरान वाक् और भाषा संसाधन के लिए संभाव्य एल्गोरिद्म का विकास हुआ। यहीं से कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान का विकास हुआ। किंतु यह कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान सैद्धांतिक पक्ष में भाषिक सिद्धांतों, प्रक्रिया और नियमों का कंप्यूटरीकृत अनुप्रयोग है, जबकि प्रयोगिक पक्ष में यह कंप्यूटर के परिचालन में भाषावैज्ञानिक सिद्धांतों और नियमों का अनुप्रयोग है। इस दृष्टि से कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान के साथ-साथ कंप्यूटर विज्ञान का प्रकृत भाषा संसाधन, विद्युत इंजीनियरिंग और कृत्रिम बुद्धि का वाक् अभिज्ञान तथा मनोविज्ञान का कंप्यूटरीकृत मनोभाषाविज्ञान भी सम्मिलित है। इसमें एक व्यापक नेटवर्क तैयार हो जाता है जिससे भाषायी सिद्धांतों का मशीनी परीक्षण निरंतर होता रहता है। इस प्रायोगिक को भाषा प्रौद्योगिकी भी कह सकते हैं।

कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान के अनुप्रयोग-क्षेत्र

कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान के अंतर्गत मशीनी अनुवाद, वाक् अभिज्ञान (speech recognition) और वाक् संश्लेषण (speech synthesis), सारांशीकरण, शब्द संसाधक, वर्तनी जांचक, व्याकरण जांचक, ई-कोश, पार्सिंग, टेगिंग, ओ. सी. आर, फॉन्ट-परिवर्तक, रूपपरक विश्लेषक (morphological analyser) आदि विभिन्न अनुप्रयोग-क्षेत्र हैं।

मशीनी अनुवाद कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। कंप्यूटर की भीतरी प्रणाली में दोनों भाषाओं के शब्द, मुहावरे, और व्याकरण-नियम फीड होते हैं। यह प्रणाली मूल पाठ के डाटा को दूसरी भाषा में स्वचालित अनुवाद करती है और कुछ क्षणों में अनूदित पाठ निर्गम (input) के रूप में प्राप्त होता है। इसमें यह देखना है कि इसका स्वरूप क्या है – सामान्य है या तकनीकी या साहित्यिक। इस प्रणाली में कितनी द्विभाषी शब्दावली, कितने व्याकरणिक नियम आदि उपलब्ध है और वे कितने सटीक हैं। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि अनुवाद मूलत: एक बौद्धिक प्रक्रिया है और इसकी क्षमता मानव के पास है। इसीलिए मशीन मानव का स्थान नहीं ले सकती क्योंकि कंप्यूटर प्रणाली मनुष्य की भाँति सहज बुद्धि से एक भाषा से दूसरी भाषा में रूपांतरित नहीं कर पाती। मशीन अभी तक अनेकार्थी और संदिग्धार्थी शब्दों या वाक्यों का अनुवाद या निर्वचन नहीं कर पाई है। इसमें तो वही अर्थ आएगा जो कंप्यूटर द्वारा समझे जा सकने वाले एल्गोरिद्म में परिवर्तित कर उसके स्मृति कोश (memory) में दिया जाता है।

मशीनी अनुवाद के विकास के लिए कई प्रणालियाँ प्रचलित हैं, किंतु तीन मुख्य प्रणालियाँ हैं – 1 नियम आधारित प्रणाली, 2 उदाहरण आधारित प्रणाली और 3 सांख्यिकी आधारित प्रणाली। नियम आधारित प्रणाली में भाषाओं के वाक्यात्मक व्याकरण को प्राथमिकता दी जाती है। इसी आधार पर रूपप्रक्रियापरक विश्लेषक (Morphological Analyser) स्रोत भाषा के लिए दिए गए व्याकरणिक नियमों की सहायता से वाक्य-विन्यासीय अर्थ (syntactic meaning) का बोधन होता है। इसमें एक शब्दकोश भी होता है जिसे कोशगत संसाधन (lexical resources) कहते हैं। यह कोशगत संसाधन रूपप्रक्रियापरक विश्लेषण से अलग किए शब्दों के अर्थ बताता है। उदाहरण आधारित प्रणाली में कार्पोरा के आधार पर मशीन के लिए कृत्रिम बुद्धि से समानांतर कार्पोरा तैयार किया जाता है और उसी के आधार पर नियम दिए जाते हैं। सांख्यिकी आधारित प्रणाली में भाषा-युग्म के बीच सांख्यिकीय संरचनाएँ निर्मित कर विरचना (decomposition) और सुव्यवस्थित अंतरापृष्ठन (interfacing) का प्रयोग होता है। इसमें कुछ गणितीय रचनाएँ काम करती हैं जो भाषा-नियमों और शब्दकोशों के प्रयोग को प्राय: कम कर देते हैं।

भारत में सन् 1980 से कई प्रकार के मशीनी अनुवादों का विकास हुआ है। आंग्ल भारती का विकास आई. आई. टी कानपुर तथा सी-डैक नोएडा के संयुक्त प्रयास से सन् 1994 में हुआ है। यह अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद करता है जिसकी विषय-सामग्री लोक स्वास्थ्य सेवा, कार्यालयी पत्राचार और तकनीकी संदर्शिका है। इसमें नियम आधारित प्रणाली और उदाहरण आधारित प्रणाली दोनों का संयुक्त रूप है। आंग्ल भारती के दो संस्करण हैं। दूसरे संस्करण में काफी संशोधन और परिवर्तन हुआ है। इसी प्रकार मंत्रा (MAchiNe assisted TRAnslation), मात्रा (MAchine TRAnslation), अनुवादक, शक्ति आदि अंग्रेज़ी-हिन्दी मशीनी अनुवाद के सॉफ्ट-वेयर उपलब्ध हैं। आई. आई. आई. टी हैदराबाद और हैदराबाद विश्वविद्यालय ने अनुसारक पद्धति से तेलुगु से हिन्दी में मशीनी अनुवाद का विकास किया है जिसमें पाणिनि व्याकरण के सिद्धांतों को आधार बनाया गया है। इसी अनुसारक पद्धति के आधार पर अन्ना विश्वविद्यालय, चेन्नई में तमिल-हिन्दी मशीनी अनुवाद का विकास हुआ है। हैदराबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी-कन्नड़ मशीनी अनुवाद को विकसित किया गया है जिसमें सार्वभौमिक वाक्यांश संरचना व्याकरण (Universal Phrase Grammar) का प्रयोग हुआ है। इसी शृंखला में आंग्ल भारती प्रौद्योगिकी के अंतर्गत अंग्रेज़ी से पंजाबी, उर्दू, बंगला, मलयालम, असमिया, नेपाली, तेलुगु अन्य भारतीय भाषाओं के सॉफ्टवेयरों का विकास हो रहा है। हिन्दी से संविधान में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं में मशीनी अनुवाद (ILMT) का कार्य काफी हद तक पूरा हो गया है और इसमें अलग-अलग स्तरों पर सफलता मिली है। एक अन्य सॉफ्टवेयर यूनिवर्सल नेटवर्किंग लेङ्ग्वेजेज़ (UNL) के माध्यम से हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषाओं से जोड़ने के लिए आई. आई. टी मुंबई और अन्ना विश्वविद्यालय दोनों में काम चल रहा है। इन के अतिरिक्त मौखिक मशीनी अनुवाद (Speech to Speech machine translation) का विकास भी हुआ है। पहले यह बहुभाषी मशीनी अनुवाद जापानी के साथ-साथ अमेरिकन इंगलिश, हिन्दी, चीनी, थाई, कोरियाई, इंडोनेशियाई और ताईवानी सात भाषाओं के सिस्टम के (A-STAR अर्थात Asian Speech Translation

Advanced Research) कन्सोर्शियम के रूप में प्रारंभ हुआ था जिसमें मानकीकृत अंतरराष्ट्रीय संचार प्रोटोकॉल का कार्य सम्पन्न हुआ। इसमें एशियाई भाषाओं के भाषा-भाषी कहीं और कभी भी सम्प्रेषण कर सकते हैं। बाद में इसका विस्तार कर फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश, पुर्तगाली, हंगेरियन, पोलिश, तुर्की, उर्दू, मंगोलियन, सिंहली, नेपाली आदि तीस भाषाओं पर काम होने लगा। जिसे U-STAR (Universal Speech Translation Advanced Research) कन्सोर्शियम कहा गया। इसका काम पहले जापान के सातोशी नाकामुरा (National Institute of Communication Technology) के नेतृत्व में हो रहा था। इस समय यह कार्य 26 देशों की संस्थाओं के सहयोग से सिंगापूर में ली हाऊज़ू (Institute of Info-Communication Research) के नेतृत्व में चल रहा है। इसकी विषय-सामग्री पर्यटन कार्य-क्षेत्र से जुड़ी है। यह सिस्टम नियम आधारित प्रणाली से विकसित है। इसमें वाक् अभिज्ञान, मशीनी अनुवाद और वाक् संश्लेषण तीन मुख्य तत्व हैं। वाक् अभिज्ञान में भाषा के उच्चरित रूप को लिखित पाठ में लाया जाता है और वाक् संश्लेषण में लिखित पाठ को उच्चरित रूप में संयोजित किया जाता है। इन दोनों के बीच मशीनी अनुवाद की प्रक्रिया चलती रहती है। इसी प्रकार कोपेनहेगन (डेनमार्क) में प्रोफेसर माइकेल के नेतृत्व में आई ट्रेकिंग (eye trecking) प्रणाली से मशीनी अनुवाद का विकास हो रहा है जिसमें अंग्रेज़ी, फ्रेंच, स्वीडिश, डेनिश, जर्मन और पुर्तगाली छ: यूरोपीय भाषाओं के साथ-साथ हिन्दी को भी लिया गया है। मशीनी अनुवाद के मुख्य घटक रूपप्रक्रियापरक विश्लेषक तथा कोशगत संसाधनों के विभिन्न मॉडलों पर शोध-कार्य चल रहा है।

वाक् प्रौद्योगिकी में मानव वाक्-संप्रेषण प्रक्रिया का अध्ययन होता है। इसमें वाक् विश्लेषण (Speech recognition) और वाक् संश्लेषण (Speech synthesis) को समझने के लिए मूलभूत अंतर्दृष्टि और एल्गोरिद्म की आवश्यकता होती है जिसमें कंप्यूटरीकृत ध्वनि-प्रक्रिया की विशेष भूमिका रहती है। वाक् अभिज्ञान में वाक् से पाठ (STT) अर्थात ध्वन्यात्मक तरंगों को इनपुट के रूप में फीड किया जाता है और शब्दों की लड़ी का उत्पादन आउटपुट के रूप में होता है। इस उपकरण में आप बोलते जाते हैं और कंप्यूटर आपकी भाषा सुनकर पाठ के रूप में उसे टंकित करता जाता है। वाक् संश्लेषण में पाठ से वाक् (TTS) अर्थात पाठ के शब्दों का अनुक्रम फीड होता है और ध्वन्यात्मक-तरंगों का आउटपुट के रूप में उत्पादन होता है। इसमें लिखित पाठ उच्चरित रूप में आता है अर्थात कंप्यूटर पढ़ कर सुनता है। इस समय यह मौसम की जानकारी और मंडी के दर बताने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। हिन्दी में श्रुतलेख (dictation) और लिप्यंतरण (transliteration) के कई सॉफ्टवेयर भी विकसित हुए हैं।

वर्तनी जांचक (Spell Checker) सॉफ्टवेयर अशुद्ध शब्दों की पहचान कर उन्हें चिह्नित करता है और उनके सही विकल्प का सुझाव भी देता है। इसमें मानक वर्तनी को फीड किया है। सी-डैक, नोएडा में शोधिका वर्तनी जांचक का विकास तो हुआ है किंतु अभी तक इसका लोकार्पण नहीं हुआ। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय ने भी एक वर्तनी जांचक का विकास किया है किंतु उसमें अभी सुधार की अपेक्षा है।

व्याकरण-जांचक (Grammar Checker) में भाषा-शिक्षार्थियों, लेखकों, संपादकों आदि को भाषा-विशेष की अशुद्ध संरचनाओं का संकेत मिलता है। हिन्दी में यह अभी प्रायोगिक स्तर पर है।

प्रकाशिक संप्रतीक अभिज्ञान (Optical Character Recognition अर्थात OCR) का आधार स्कैनिंग है। स्कैनिंग कंप्यूटर किसी तस्वीर आदि को प्रकाश बिंदुओं के संदर्भ में पहचानता है और तस्वीर को डिजिटल प्रणाली से तस्वीर के रूप में सुरक्षित रखता है। इस चित्रात्मक स्कैनिंग से जो पाठ उपलब्ध होता है, उसका संशोधन-संपादन भी हो सकता है। वास्तव में कंप्यूटर पाठ के प्रत्येक वर्ण को एक-एक कर पहचानता है और उन्हें वर्णों के रूप में सुरक्षित करता है, फिर वह शब्दों को पहचान कर साथ में उनकी वर्तनी की भी जांच करता चलता है। हिन्दी में ओ. सी. आर का विकास तो हुआ है किंतु वह अभी प्रारंभिक अवस्था में है।

डिजिटल पुस्तकालय एक ऐसा उपकरण है जिसमें विभिन्न पुस्तकालयों की विभिन्न भाषाओं की पुस्तकों का कंप्यूटरीकरण होता है। इसमें पुस्तक या लेखक का नाम, अनुक्रमणिका, पुस्तक का सारांशीकरण और पुस्तक के महत्वपूर्ण अंश भी उपलब्ध कराए जाते हैं। सी-डैक, नोएडा ने नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, राष्ट्रपति भवन ग्रंथालय आदि की पुस्तकों का डिजिटलीकरण किया है। कंप्यूटर साधित भाषा अधिगम के अंतर्गत भाषा शिक्षण के कई सॉफ्टवेयर विकसित हुए हैं जिनमें राजभाषा विभाग, भारत सरकार के हिन्दी प्रबोध, प्रवीण और प्राज्ञ पाठ्यक्रमों के लिए लीला (Learn Indian Languages through Artificial Intelligence) सॉफ़्टवेयर का विकास सी-डैक, पुणे द्वारा हुआ है। इससे पाठों में आए वाक्यों, शब्दों, वर्णों के मानक उच्चारण को सुनना और उनका अभ्यास करना सिखाया जाता है। देवनागरी लिपि के माध्यम से सभी भारतीय भाषाओं को सीखने की सुविधा उपलब्ध है। हिन्दी शिक्षण की दृष्टि से मैजिक सॉफ्टवेयर, नई दिल्ली द्वारा विकसित मल्टीमीडिया सी-डी रोम गुरु भी महत्वपूर्ण है। इसमें संवाद के माध्यम से विदेशी संकल्पनाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसमें व्याकरण, कोश, चित्रकोश, लोककथा, वर्ग-पहेली आदि से हिन्दी शिक्षण का एक अच्छा प्रयास है।

कंप्यूटरीकरण से कोश-निर्माण की तकनीक और दृष्टि में काफी परिवर्तन दिखाई देता है। आज शब्दकोश मात्र अर्थ बोध तक सीमित नहीं रह गया है बल्कि शब्द के विभिन्न अर्थों और संदर्भों को भी उद्घाटित करता है। ऐसे शब्दकोश का निर्माण मुख्यत: संरचनात्मक, घटकपरक और संबंधपरक अधिगम के आधार पर होने लगा है। शब्दकोश.कॉम, शब्दिका (प्राधिकृत शब्दावली), अंग्रेज़ी-हिन्दी सूचना प्रौद्योगिकी शब्दावली, नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित ऑनलाइन हिन्दी विश्वकोश आदि विभिन्न कोशो का विकास हुआ है। सी-डैक ने केंद्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा प्रकाशित अट्ठारह भारतीय भाषाओं के भारतीय भाषा कोश का विकास अंग्रेज़ी भाषा सहित किया है किंतु उसका अंतिम रूप ऑनलाइन पर अभी तक नहीं दिया गया। वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग ने तकनीकी शब्दावली के वैकल्पिक हिन्दी पर्याय वेबसाइट पर प्रसारित किए हैं। महात्मा

गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय द्वारा वर्धा हिन्दी कोश का जो निर्माण किया गया है, उसका दूसरा संस्करण ऑनलाइन आ चुका है।

इन सब के अलावा इन्टरनेट, ई-मेल, वेब पब्लिशिंग, डेस्क-प्रकाशन (DTP) आदि कई उपकरण हिन्दी में उपलब्ध हो रहे हैं। भारतीय रेल द्वारा हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में आरक्षण की व्यवस्था सुलभ हो गई है। भारतीय निर्वाचन आयोग ने मतदाताओं की सूची और उनके परिचयपत्र हिन्दीम में तैयार किए हैं। कई ग्रंथों, रिपोर्टों, क्लासिक ग्रंथों, बाल-साहित्य आदि अनेक प्रकार की ऑनलाइन सामग्री उपलब्ध है। इस प्रकार कंप्यूटरीकृत भाषाविज्ञान उपभोक्ता-प्रधान विषय है जिससे सूचना प्रौद्योगिकी का क्षेत्र सुदृढ़ और सुगठित हुआ है।

संदर्भ सूची

Clark, Alexander, Chris Fox & Shalom Lappin (eds.) 2015 The Handbook of Computational Linguistics and Natural Language Processing, Wiley-Blackwell.

Jurafsky, D and JH Martin 2009 Speech and Language Processing: An Introduction to NLP, Computational Linguistics and Speech Recognition, Upper एसaddle River, NJ: Pearson Prentice Hall.

Turing, AM 1950 Computing Machinery and Intelligence, Mind 59:236:433-460

Wintner, Shuly 2003 Computational Linguistics: An Introduction cs. Haifa.ac.il

कृष्ण कुमार गोस्वामी, 2002 सूचना प्रौद्योगिकी में हिन्दी: एक सर्वेक्षण भाषा 41:5:131-38 नई दिल्ली: केंद्रीय हिन्दी निदेशालय

कृष्ण कुमार गोस्वामी, 2004 सूचना प्रौद्योगिकी और हिन्दी: विविध आयाम अनुवाद 117-118: 99-105 नई दिल्ली: भारतीय अनुवाद परिषद

कृष्ण कुमार गोस्वामी, 2012 अनुवाद विज्ञान की भूमिका नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन

(लेखक प्रख्यात भाषाविज्ञानी एवं अनुवाद अध्ययन के विशेषज्ञ हैं।)

*** राष्ट्रीय प्राची भाषा एवं सभ्यता संस्थान (INALCO), पेरिस विश्वविद्यालय, पेरिस में 14-16 सितंबर, 2016 को आयोजित अंतरराष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन में इस आलेख का वाचन किया गया।

ISSN 2454-7131

कंप्यूटर और हिंदी

डॉ० राम प्रकाश यादव

कंप्यूटर पर मातृभाषा का प्रयोग प्राकृतिक भाषा संसाधन का एक महत्वपूर्ण पहलू है। प्राकृतिक भाषा से तात्पर्य मनुष्य द्वारा व्यवहृत भाषाएँ हैं। यह सामान्य धारणा है कि कंप्यूटर उपयुक्त भाषा अंग्रेजी ही है। परंतु यह व्यक्तिगत सुविधा और संकल्प के अभाव से जुड़ा प्रश्न है। अंग्रेजी के पक्षधर अंग्रेजी के अक्षरों की संख्या का कम होना और संयुक्ताक्षरों का न होना अंग्रेजी का सबल पक्ष बताते हैं। इस संदर्भ में यह विचार करना आवश्यक है कि क्या विश्व के अन्य देश भी कंप्यूटर पर अंग्रेजी में ही कार्य करने को वरीयता देते हैं? यह इस वृहत्तर प्रश्न का हिस्सा है कि क्या ज्ञान अंग्रेजी भाषा सापेक्ष है, उसमें छिपा हुआ है? अन्य भाषा में क्या वैज्ञानिक ज्ञान की सटीक अभिव्यक्ति संभव नहीं है? पर यह विचार करने की आवश्यकता है कि क्या चीन, जापान, कोरिया, फ्रांस एवं स्पेन आदि देशों में, जो तकनीकी और वैज्ञानिक दृष्टि से समुन्नत राष्ट्र हैं क्या ज्ञान- विज्ञान को विदशी भाषा में ग्रहण करते हैं, तो उत्तर प्राप्त होगा – 'नहीं'। यह ठीक है कि वैश्वीकरण और बाजार तथा व्यापार आवश्यकताओं के कारण अंग्रेजी की स्वीकार्यता बढ़ी है पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि इन संदर्भित राष्ट्रों ने अंग्रेजी को लेकर अपनी शिक्षा नीति में कोई परिवर्तन किया है।

चीनी भाषा की लिपि चित्रात्मक है। चीनी भाषा की लिपि में 20,000 के लगभग कैरेक्टर्स हैं। इस लिपि को सीखना सरल नहीं है। परन्तु विकसित देशों से होड़ ले रहा चीन राष्ट्रीय संदर्भों में चीनी का ही व्यवहार करता है। इसी चित्रात्मक लिपि में ही चीनी समाज ज्ञान- विज्ञान सीखता है और कंप्यूटर अनुप्रयोग भी करता है।

देवनागरी लिपि में टंकण की कठिनाई को लेकर कई सवाल उठाए जाते हैं। परंतु वर्तमान तकनीकी विकास के आलोक में यह प्रश्न अपनी प्रासंगिकता खो चुका है। हिंदी लेखन के इतने सरल, सहज और सुंदर एप अब सहज ही उपलब्ध हैं, आपके मोबाइल फोन में तो यह इनबिल्ट ही है। भारतीय भाषाओं में टंकण का बढ़ता प्रयोग सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म पर आप सहज अनुभव कर सकते हैं। अब रोमन में लिखना बीते जमाने की बात है। यद्यपि लिप्यन्तरण को लेकर हम अभी भी अपनी निर्भरता समाप्त नहीं कर सके हैं।

सरकार भले ही अंतिम जन तक पहुँचने के प्रयासों में पीछे रह जाय पर बहुराष्ट्रीय कंपनियां अपने उत्पाद को अंतिम व्यक्ति तक पहुँचाने की जी तोड़ कोशिश कर रही हैं और इसमें सफल भी हैं। विपुल उत्पादन के चलते कीमतों में काफी कमी आई है। असाधारण फीचर्स वाले उपकरण अब आपकी भाषा में सहज सुलभ हैं ताकि

ISSN 2454-7131

कहीं ऐसा न हो कि केवल उपयोग की सुविधा के कारण आप एक कंपनी का उपकरण छोड़ कर दूसरे का ले लें। एक उदाहरण आपको देता हूँ। एक संस्था के कुछ कर्मियों ने एक कम प्रचलित स्मार्ट फोन कंपनी से स्मार्ट फोन की बल्क बुकिंग की। जो सेट प्राप्त हुआ उसमें हिंदी टंकण की समस्या थी। शिफ्ट कुंजी दबाने पर आने वाले अक्षर टंकित नहीं होते थे। साथ ही कुछ अक्षरों के टंकण का कोई विकल्प उपलब्ध नहीं था। कर्मियों ने इस बात की ओर कंपनी का ध्यान आकर्षित किया और कहा कि इसमें सुधार किया जाना चाहिए। यह जुलाई 2014 के आस-पास की बात है। प्राप्त फीड बैक के आधार पर लगभग छः- सात महीनों में ही किट- कैट संस्करण के साथ ही उन्होंने भाषाई टूल में अद्भुत सुधार किए। न केवल पहले की समस्याओं का समाधान किया बल्कि हिंदी भाषा प्रयोग हेतु कुंजीपटल को प्रयोक्ता सहज भी बनाया। संयुक्ताक्षर लिखना भी अब आसान हो गया। साथ ही आने वाले संस्करणों में कुछ अक्षर टंकित करते ही संभावित विकल्पों को कुंजीपटल के ऊपर अंकित कर टंकण में समय और श्रम की बचत का भी उद्यम किया। नई पीढ़ी के कंप्यूटर में भी हिंदी टंकण को लेकर महत्वपूर्ण सुधार किए गए हैं। अब किसी भी इलेक्ट्रानिक उपकरण में हिंदी में टंकण करना अंग्रेजी जितना ही आसान है।

हिंदी में कंप्यूटर अनुप्रयोग की एक अन्य समस्या फॉण्ट की समस्या है। पहले ट्रू टाईप फॉण्ट विकसित हुए और तदुपरांत ओपन टाईप फॉण्ट प्रचलन में आए। फॉण्ट की संरचना आधार के अलग- अलग होने के कारण फाईल खोलने के लिए अलग- अलग फॉण्ट को इंस्टाल किए जाने की आवश्यकता पड़ती है। विभिन्न ऑपरेटिंग सिस्टम में देवनागरी हेतु कुछ एक फॉण्ट उपलब्ध हैं। यद्यपि वर्तमान संस्करणों में यूनिकोड की सुविधा है परंतु यूनिकोड इतर फांटों में पारस्परिक समानता नहीं है। यूनिकोड इतर फॉण्ट में टंकित दस्तावेजों का खुलना अलग कंप्यूटर और अलग प्लेटफार्म पर अनिश्चित होता है। यह संभव है कि आपने हिंदी में कोई इलेक्ट्रॉनिक पाठ कहीं भेजा हो और वह अपने वास्तविक स्वरुप में प्राप्तकर्ता को दृष्टिगोचर न हो। वस्तुतः यह कोई बड़ी समस्या नहीं है, यह केवल संकल्प के अभाव का प्रश्न है। प्रयोगकर्ता की सुविधा, मातृभाषा में कंप्यूटर प्रयोग की उसकी रूचि को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि शीघ्र ही इन बाधाओं का निदान किया जाय। इस प्रकार की बाधाओं के चलते ही कंप्यूटर प्रयोक्ता हिंदी के बजाय पराई भाषा अंग्रेजी की शरण लेने को बाध्य होता है, भले ही अंग्रेजी में उसकी गति न हो। एक ऐसे सार्वभौमिक परस्पर फॉण्ट परिवर्तक प्रणाली के विकास की आवश्यकता है जो प्रयोकर्ता को त्रुटिरहित पाठ प्रदान कर सके। कंप्यूटर के आगमन के बाद पिछले कई दशकों में हिंदी की इतनी सामग्री टंकित रूप में है कि यदि उनको पुनः यूनिकोड में टंकित करना हो तो अनावश्यक समय और श्रम की बर्बादी होगी। हिंदी के क्षेत्र में तकनीकी विकास में लगे संस्थानों को इस तरह के परस्पर फॉण्ट परिवर्तक को मुफ्त उपलब्ध कराना चाहिए। इससे हिंदी प्रयोग को निश्चय ही प्रोत्साहन प्राप्त होगा। भारत सरकार के सूचना प्रौद्योगिकी

विभाग ने अपने हिंदी टूल्स की CD में मुफ्त प्रयोग के लिए कई फॉण्ट दिए हैं परंतु इनके व्यावसायिक उपयोग पर प्रतिबंध है। हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए इन्हें मुफ्त उपलब्ध कराया जाना चाहिए। कंप्यूटर ऑपरेटिंग सिस्टम निर्माता कंपनियों को इन फॉण्टों को अपने उत्पादों में लागू किए जाने के लिए आवश्यक कार्यवाही सरकार द्वारा की जानी चाहिए। यह हिंदी में कंप्यूटर प्रयोक्ताओं के हित में है और देवनागरी लिपि के प्रयोग को संवर्धित करने में निश्चय ही उपयोगी है।

यूनिकोड में सीधे टंकण करना अत्यंत आसान है, बस आवश्यकता है तो केवल जागरूकता की। वैश्विक स्तर पर वेब पर हिंदी की उपस्थिति दर्ज करने के लिए यूनिकोड का प्रयोग सर्वमान्य हो गया है। यूनिकोड का अर्थ है 'सार्वभौम कोड' (Universal Code)। यूनिकोड में टंकण की सुविधा सीधे टंकण एवं लिप्यंतरण (Transliteration) द्वारा प्राप्त है। हिंदी ट्रांसलिटरेशन टूल एमएसएन(MSN) एवं गूगल आदि के द्वारा उपलब्ध कराए गए हैं और विभिन्न उपकरणों में सफलतापूर्वक प्रयोग किए जा रहे हैं। लिप्यंतरण पर निर्भरता कम करने से समय भी बचेगा और श्रम भी।

इनपुट के लिए की-बोर्ड ड्रायवर साफ्टवेयर ऑपरेटिंग सिस्टम का महत्वपूर्ण एवं अभिन्न भाग है। रोमन के लिए Qwerty कुंजीपटल का प्रयोग सामान्यतया किया जाता है। देवनागरी लिपि में इनपुट के लिए इनस्क्रिप्ट, फोनेटिक, रेमिंग्टन आदि कुँजीपटल चलन में रहे। भारत की राजभाषा देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी है। यह भी विडंबना ही है कि देवनागरी प्रयोग हेतु शासकीय मान्यता और इस लिपि का प्रयोग कर रही विशाल जनसँख्या के होते हुए भी सरकारी विभागों, उपक्रमों और सरकारी वित्त पोषित परियोजनाओं में नागरी कुंजीपटल की अनिवार्यता नहीं है। अपवादस्वरूप ही किसी कंप्यूटर पर ऐसी सुविधा प्राप्त होगी। इनस्क्रिप्ट मानक के अनुसार नागरी की- बोर्ड TVS ने बनाया। यह खेद का विषय है कि सरकारी विभागों में खरीदार न मिलने के कारण TVS ने इसको बनाना बंद कर दिया। विभिन्न सरकारी प्रतियोगी परीक्षाओं यथा कर्मचारी चयन आयोग में टंकण की परीक्षा में इनस्क्रिप्ट नागरी कुंजीपटल पर परीक्षा की अनिवार्यता नहीं है। सरकारी कार्यालयों, स्कूलों, विश्वविद्यालयों तथा प्रशिक्षण संस्थानों में कंप्यूटर और टंकण प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों में इनस्क्रिप्ट नागरी कुंजीपटल के साथ-साथ यूनिकोड कुंजीपटल का ज्ञान अनिवार्य किए जाने की आवश्यकता है।

'फॉण्ट परिवर्तक' इस चर्चा का एक महत्वपूर्ण अन्य पहलू है। हिंदी में अलग- अलग फॉण्ट में विपुल लिखित सामग्री उपलब्ध है। एक फॉण्ट को अन्य फॉण्ट में परिवर्तित करने हेतु विविध टूल्स उपलब्ध हैं, परंतु इनकी शुद्धता सीमित है।

ISSN 2454-7131

इसी से जुड़ा हुआ पहलू हिंदी ओसीआर का है। हिंदी भाषा में लिखित विपुल सामग्री अभी भी एक सार्वभौमिक ओसीआर की प्रतीक्षा कर रही है। इसके माध्यम से किसी भी देवनागरी फॉण्ट में मुद्रित सामग्री को बिना टंकित किए ओसीआर के माध्यम से इलेक्ट्रानिक पाठ में बदलना संभव हो सकेगा।

वेब पर देवनागरी लिपि का उपयोग यूआरएल, ई-मेल आई डी आदि में भी किए जाने की आवश्यकता है। चीनी और अरबी जैसी जटिल लिपियों में यह सुविधा उपलब्ध है पर हिंदी में यह सुविधा प्राप्त नहीं है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि डोमेन नेम की दिशा में बड़ी सफलता प्राप्त करते हुए '.(डॉट)भारत' डोमेन नेम भारत सरकार एवं NIXI द्वारा 27 अगस्त, 2014 को राष्ट्र को समर्पित किया गया।

(लेखक अनुवाद अध्ययन विभाग, महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में सहायक प्रोफ़ेसर हैं।)

ISSN 2454-7131

हिन्दी-पट्टी में आलोचनात्मकता का अवसान

प्रो० शंभु गुप्त

समय के सन्दर्भ में साहित्य को देखना-समझना न केवल साहित्य बल्कि समय को भी देखने-समझने के लिए ज़रूरी है। समय और साहित्य दोनों एक-दूसरे के सापेक्ष हैं। कोई चाहे तो यहाँ उज्र कर सकता है कि समय के साथ साहित्य की इस तरह बराबरी या समानान्तरता दिखाना साहित्य को कुछ ज़्यादा ही महत्व देना है, क्योंकि समय साहित्य से आगे और ऊपर का उपक्रम है। इन दोनों के वरीयता-क्रम में समय की स्थिति पहले है। किसी भी समुदाय या समाज का इतिहास पहले शुरू होता है, साहित्य उसके कुछ कालान्तर में। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि किसी भी समुदाय या समाज का जीवन पहले शुरू होता है, उसकी भाषा और उसका साहित्य कुछ बाद में। इसका अर्थ यह हुआ कि साहित्य की उत्पत्ति या सृजन की पृष्ठभूमि में समय या इतिहास या जीवन अनिवार्यतः होता है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि समय या इतिहास या जीवन साहित्य का उपजीव्य और उसकी अन्तर्वस्तु बनकर संरचित या पुनर्रचित होता है। ऐसा कोई सार्थक शब्द-विन्यास या वाक्य सृजनात्मक भाषा में नहीं होता, जिसकी कोई सामयिक या ऐतिहासिक या जीवनगत तर्कसंगति अवस्थित नहीं होती। यहाँ तक कि वे लोग भी जो साहित्य को समय या इतिहास से परे और निरपेक्ष मानते हैं या मानने का दावा करते हैं, कहीं न कहीं, चाहे बहुत अव्यक्त और निगूढ़ और प्रच्छन्न रूप में ही सही, अपने समय और इतिहास के किसी न किसी पक्ष या प्ररूप से संचालित होते हैं। यह वस्तुतः सृजनात्मक शब्द की स्वाभाविकता और मूलभूत वृत्ति है कि वह अपने समय और इतिहास से विलग नहीं रह सकता। समय और इतिहास शब्द को उसका अर्थ और उस अर्थ को उसका सन्दर्भ देते हैं। स्पष्ट है कि समय किंवा इतिहास के बिना साहित्य का निस्तार नहीं।

समय के साथ जब साहित्य इस तरह नाभिनालबद्ध है तो तय है कि सृजन की तरह उसका अधिगम भी समय या इतिहास के परिप्रेक्ष्य या सहकार में ही हो सकता है। समय या इतिहास या जीवन चूँकि निरन्तर गतिशील और परिवर्तनशील होता है अतः उसकी सृजन और अधिगम दोनों ही प्रक्रियाएँ भी निरन्तर गतिशील और परिवर्तनशील होती हैं। हम यहाँ चूँकि आलोचना की पैरवी में हैं अतः यह उसका अपरिहार्य तक़ाज़ा है कि हम यह कहें कि साहित्य का अधिगम भी समय और इतिहास और जीवन की संगति में ही हो सकता है। वैसे तो ऐसा हमेशा होता आया ही है; हिन्दी-आलोचना का अधिकांश इसका गवाह है, लेकिन इसे बराबर और बार-बार याद दिलाने की ज़रूरत पड़ती है कि समय का सन्दर्भ लिए बिना किसी भी सृजनात्मक शब्द का सही-सही अर्थ नहीं पता लगाया जा सकता। हम अन्दाज़ से, यादृच्छिकता से या जोड़-तोड़ से साहित्य की व्याख्या बाज़वक़्त कर तो

सकते हैं लेकिन वह व्याख्या इतिहास की कसौटी पर खरी उतरेगी ही, इसकी कोई गारंटी नहीं दे सकता। हालाँकि यह सच है कि शब्द का कोई एक या पूर्ण गारंटीशुदा अर्थ नहीं होता, समय और व्यक्ति के अन्तर से वह बदलता भी रह सकता है लेकिन फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि एक निश्चित समय या व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत अर्थ उसके अपने सन्दर्भ-विशेष में पूर्ण और स्वायत्त होता है। यदि ऐसा न हो तो अर्थ की अराजकता का ख़तरा पैदा होने का अन्देशा बन आ सकता है, जो कि एक बहुत ही ग़ैर-ऐतिहासिक स्थिति है।

शायद यही कारण है कि पिछली शाताब्दी और ख़ास तौर से आज़ादी के बाद से लेकर अब तक साहित्य का अध्ययन कम से कम हिन्दी में तो सही ही, समय के अनुशासन में बँधकर किए जाने की प्रवृत्ति ने ज़ोर पकड़ा था। छठे दशक में सम्भवतः पहली बार समय का यह अनुशासन पीढ़ीपरक अध्ययन के रूप में सामने आया, जब 'भूखी पीढ़ी', 'श्मशानी पीढ़ी' जैसे प्रत्यय सामने आए। इस समय से लेकर अब तक हिन्दी-आलोचना की लगभग यह परिपाटी ही बन गई कि हर विधा का पीढ़ीगत अध्ययन किया जाए। एक तरह से देखा जाए तो यह प्रथा नई पीढ़ी के दबाव के चलते शुरू हुई। हिन्दी में यह लगभग एक तरह का अन्धविश्वास ही है कि यहाँ हर दसवें साल एक नई पीढ़ी पैदा हो जाती है और वह अब तक के सारे पैमानों और परिपाटियों को बदल देती है। साहित्य को समझने-समझाने, सृजन-प्रक्रिया, वस्तु-अन्तर्वस्तु, सरोकार इत्यादि के उसके अपने मानदंड होते हैं और अनिवार्यतः वे पिछले से भिन्न और आगे के होते हैं। नई पीढ़ी का दबाव यह होता है कि उसे उसके अपने समय और ऐतिहासिक सन्दर्भ-विशेष में समझा जाए, परम्परा की लाठी से उसे न हाँका जाए, पुरनियाँ पीछे हटें और हमें आगे आने दिया जाए; आदि-आदि। एक तरह से देखा जाए तो यह उचित ही है। इससे चीज़ें ज़ल्दी-ज़ल्दी विकसित होती हैं, नई प्रवृत्तियाँ रेखांकित होती हैं, साहित्य की वस्तु-अन्तर्वस्तु में नवोन्मेश आता है, आलोचना के सामने नई चुनौतियाँ दरपेश होती हैं। अतः साहित्य का दशकाधारित अध्ययन-विश्लेषण किसी माने में कोई अनुपयुक्त वृत्ति नहीं, अपितु अधिकांशतः एक सम्भावनाशील प्रवृत्ति ही है क्योंकि, जैसा कि मैंने कहा, इससे आगे का रास्ता ज़ल्दी और बहुआयामी तरीक़े से खुलता है। हाँ, इतना अवश्य ध्यान में रहना चाहिए कि परम्परा के विकासशील तत्वों की उपेक्षा न हो, पिछली पीढ़ी को पुराना या बासी कहकर एकदम किसी कोने में न डाल दिया जाए, नए के नाम पर अपने-आप को एकदम स्वयंभू और सर्वोपरि न मान लिया जाए; जैसा कि पिछले दिनों हिन्दी की नई कथा-पीढ़ी के एक गुट ने जगह-जगह लिखकर और बोलकर और व्यवहार कर प्रदर्शित किया कि सब-कुछ केवल वह जानता है, उसी का लिखा असली है, वही सबसे प्रासंगिक है, बाक़ी के लोग उनके सामने कुछ नहीं; इत्यादि-इत्यादि। इन बाक़ी के लोगों में उनकी अपनी ही पीढ़ी के कुछ रचनाकार थे, जो उनसे कुछ अलग क़िस्म का लिख-बोल रहे थे और इनके वर्चस्व को चुनौती दे रहे थे, इनके सरोकारों पर सवाल उठा

रह थे। हिसाब से तो यह द्वन्द्व एक बहुत ही सम्भावनाशील स्थिति थी, इसे अगर वैमार्शिक तौर पर आगे बढ़ाया जाता तो हिन्दी की युवा कहानी पर एक बहुत ही सार्थक और अग्रगामी बहस हो सकती थी, परम्परा के सामने एक विकल्प खड़ा किया जा सकता था। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। सारी बातें पत्रिकाओं, गोष्ठीयों, प्रतिष्ठानों पर क़ब्ज़ा करने के रास्ते पर चल पड़ीं और आलोचना चुपचाप खड़े-खड़े सारा खेल देखती रही। हुआ यह भी कि पिछली पीढ़ी के लोग भी इस गुटबाज़ी के संक्रमण की चपेट में आए और पैंतरे बदलते दिखाई दिए। सारा दृश्य लगभग वैसा ही हो गया कि मानो साहित्य की दिल्ली के तख़्त पर अपना परचम लहराना है, अब इसके लिए चाहे जो करना पड़े! राजनीतिक सत्ता के गलियारों में देश-प्रदेशो की राजधानियों में आए दिन जो उठा-पटक देखने में आती है, लगभग वैसी ही उठा-पटक साहित्यिक राजधानियों के गलियारों में भी दिखाई दी। इस पूरे प्रक्रम में सबसे ज़्यादा किरकिरी आलोचना की हुई क्योंकि वह यह तय नहीं कर पाई कि उसे किस तरफ़ होना चाहिए। वह लगातार विचलित होती रही और कोई पुख़्ता मूल्य-निर्णय नहीं कर पाई। जो हो। यह वाक़या मुझे याद आया तो मैंने इसकी चर्चा की।

दरअसल युवा-पीढ़ी पर जब भी हम बात करते हैं तो आलोचना पर सबसे पहले हमारा ध्यान जाता है, जाना चाहिए। आलोचना का हर समय यह दायित्व होता है कि वह रचना को उसके समकाल के सन्दर्भ में बख़ूबी हर तरह से परखे और अपना पक्ष रखे। आलोचना की कमियों, कमज़ोरियों और लचर रवैये के चलते ही ऐसा होता है कि रचना का सही-सही मूल्यांकन नहीं हो पाता, जेन्युइन रचनाएँ अपना नोटिस लिए जाने के लिए तरसती रह जाती हैं जबकि दूसरे-तीसरे दर्ज़े की रचनाएँ महत्व पा जाती हैं। मित्रता, लेन-देन, मतवाद इत्यादि के आयाम जब प्रधान हो उठते हैं तो अमूमन ऐसी स्थितियाँ पैदा होती हैं। यह ठीक वह स्थिति है जो राजनीतिक सत्ता के दरीचों में आए दिन देखने को मिलती है। सत्ता का कोई संगत तर्क हो, यह ज़रूरी नहीं। कई बार सत्ता का तर्क सिर्फ़ सत्ता होता है। ऐसी स्थिति में मूल्य-निर्णय की बात पृष्ठभूमि में चली जाती है और लाभ-लोभ की तात्विकताएँ सामने आ जाती हैं। पेशेवर आलोचना की यह दुर्गत सचमुच आश्चर्यजनक है हालाँकि आश्चर्य जैसा भी इसमें कुछ नहीं ही तो है। यह समय की बलिहारी है, जिसमें अधिकांश व्यक्ति एक-दूसरे की देखा-देखी कार्यरत हैं। जोख़िम उठाने का माद्दा या तो ख़त्म हो गया है या बहुत ही कम रह गया है। समस्याएँ ज्यों की त्यों अनसुलझी पड़ी हैं और लोग आत्मरति में निमग्न हैं। प्रतीत होता है कि इतिहास का डर उनके दिमाग़ से उतर गया है। इतिहास की यह वृत्ति है कि वह हर पिछली पीढ़ी से अपने अब तक के किए का लेखा-जोखा माँगता है। हर आने वाली नई पीढ़ी के मार्फ़त वह यह काम करता है। पिछली पीढ़ी यदि अपना हिसाब देते हुए बगलें झाँकने लगे तो इसका साफ़ मतलब है कि उसने कहीं कुछ गड़बड़ ज़रूर किया है। वैसे तो यह स्थिति लगभग हर

ऐतिहासिक मोड़ और समयान्तर में दिखाई देती है लेकिन मौज़ूदा समय इस लिहाज़ से अपेक्षाकृत ज़्यादा संकटपूर्ण है जबकि लगभग हर तरह की राजनीति तरह-तरह के अननुमेय संक्रमणों का शिकार हुई है। इतिहास दरअसल हर ज़िम्मेदार व्यक्ति से यही सवाल पूछता है कि आपने समय के तक़ाज़ों पर क्या रुख़ अख़्तियार किया?

बात को थोड़ा साफ़ और प्रामाणिक बनाने के लिए यहाँ हिन्दी की कुछ महत्वपूर्ण पत्रिकाओं के सम्पादकों के सम्पादकीयों की तसदीक़ ली जा सकती है। मसलन, 'पहल' के सम्पादक ज्ञानरंजन 'पहल' की दूसरी पारी के पहले अंक की 'कुछ पंक्तियाँ' में लिखते हैं-''पुराने होनहारों में सन्नाटा है, उनके भीतर खिलेगा तो देखेंगे की मनोवृत्ति कायम है। यह दबंगई है। हैसियत बना लेने वाले और पुराने समर्थ रचनाकारों की चाल में एक सफलीभूत गर्वीलापन आ गया है। ये दरारों में अपना घर बना रहे हैं, ये पंक्तियों को आगे पीछे करते हैं, शीर्षकों को बदलते बदलते ही शाम हो जाती है पर इनका एक मजबूत संयुक्त परिवार है। ये प्रतिबद्धताओं से परे चले गये हैं।'' (पहल 91, जनवरी 2013, पृ. 5)। वर्तमान साहित्यिक समय को पहचानते हुए आगे वे लिखते हैं-''कठिनाई यह है कि इधर कलह, तू तू, लांछन, दंगा, दंगल, और वकालत बहुत बढ़ गयी है। जो विश्वसनीय और मजबूत स्वर थे वे भी इसी मिर्च मसाले के शिकार हुए या अवसादग्रस्त हुए। मार काट मची हुई है, सहमे हुए बच्चे गर्दन घुमा घुमा कर देख रहे हैं, चुप हैं, विचलित हैं या इंटरनेट की शरण में हैं। कुछ हैं जो चैराहों पर रुके हैं, भांप रहे हैं कि क्या करें। या वही कि खिलेगा तो देखेंगे। जबकि हिन्दी का विश्व साम्राज्य बढ़ रहा है, प्रकाशकों का विश्व साम्राज्य बढ़ रहा है। अमीरी आ रही है, विभोर कर रही है, प्रतिरोध ठप है या खुदरा है।'' (वही)। आगे फिर वे आलोचना को कठघरे में लाते हैं और सवाल दर सवाल करते हुए-जिनका कोई ज़वाब फिलहाल उसके पास नहीं है और सचमुच वह अभियुक्त जैसी स्थिति में है-उस पर आरोपों की झड़ी लगा देते हैं-''आलोचक और मार्गदर्शक क्या कर रहे हैं? आलोचना की पीठ अध्यापकों के पास हैं। वे वाचाल हैं, लोकार्पित हैं, अध्यक्षताएँ कर रहे हैं, जगह जगह जाकर उन्होंने शताब्दी तमाशा मचाया हुआ है क्योंकि कोश और श्रद्धा उसी जगह है। वे व्यस्त हैं, वे उद्घाटन और नियुक्तियाँ करेंगे, भक्त बनाएंगे, छोटे छोटे लिटरेरी क्लब बनवाएंगे, फुटकरों का संग्रहण करेंगे। वे आपको पुरस्कृत करेंगे और प्रतिदिन एक समारोह मचाएंगे। एक धारा बन गई है, उस लीक पर वृद्धों की राह पर प्रौढ़ भी चल पड़े हैं, अब नवतव्यों की बारी है।'' (वही)।

हम याद दिला दें कि यहाँ हिन्दी-आलोचना की मज़म्मत करना हमारा अभिप्राय नहीं है। आलोचना हमारा विषय-सन्दर्भ भी नहीं है। आलोचना को हम बार-बार जो यहाँ ला रहे हैं तो उसका तात्पर्य कुछ और है। आलोचना सिर्फ़ आलोचना नहीं होती वह और भी बहुत-कुछ होती है। आलोचना का सम्बन्ध सिर्फ़ साहित्य से

नहीं है बल्कि जैसा कि कहा जाता है, उसका सम्बन्ध पूरी सभ्यता से होता है। आलोचना केवल साहित्य की नहीं बल्कि सभ्यता की समीक्षा होती है। मुक्तिबोध ने जब यह बात कही थी तो केवल साहित्य उनके ध्यान में नहीं था, समूचा समय उनके ध्यान में था। और उसमें भी समकाल सबसे ऊपर था। अतीत और भविश्य की असल कसौटी और पैमाना वर्तमान ही होता है। वर्तमान को केन्द्र में रखकर ही हम अतीत और भविष्य का आकलन-पुनराकलन करते हैं। वर्तमान की भूमि पर खड़े होकर ही हम आगे और पीछे देख सकते हैं। अतः वर्तमान प्रकारान्तर से एक स्थायी और अजर-अमर स्थिति है। एक शाश्वतता और अखण्ड निरन्तरता का भाव वहाँ होता है। यह एक भौतिक और प्रत्यक्ष दृश्यमानता की स्थिति है जिसका सीधा सम्बन्ध जीवन और उसे प्रोत्साहित-निरुत्साहित या सम्भव-असम्भव करने या आगे या पीछे ले जाने या एक ही जगह पर ठहरा देने वाली स्थिति-परिस्थितियों से होता है। अतः वर्तमान का सर्वोपरि महत्व असंदिग्ध है, उसके महत्व या सर्वोपरि प्रासंगिकता पर कोई बहस नहीं है। बहस दरअसल जिस बात पर है, वह यह है या होनी चाहिए कि वर्तमान के प्रति हमारा रुख़ क्या है? वर्तमान की हमारी समझ क्या है? वर्तमान को हम किस रूप में लेते हैं और उसमें हमारा कुछ हस्तक्षेप है या नहीं और यदि है तो उसकी तत्व-प्रकृति और प्रवृत्ति क्या है? हमारी प्राथमिकताएँ और वरीयताएँ क्या हैं और कुलमिलाकर हम किस भूमिका में हैं? हिन्दी के वर्तमान के सन्दर्भ में पूछें तो अखिलेश के शब्दों में मैं कहना चाहता हूँ कि ''गगग हिन्दी साहित्य के तमाम प्रपंचों, पुरस्कारों, फैलोशिप, पदों, कमेटियों, विदेश यात्राओं, प्रशस्तियों, समीक्षाओं, षडयंत्रों, रणनीतियों और गप्पों अफवाहों के कोलाहल कोहराम में अनेक मुद्दे, सिद्धांत, विचार, संवेदन, वाद विवाद अभिव्यक्त होने के लिए पुकार रहे हैं। क्या हम उन्हें सुन पा रहे हैं अथवा सुनने की इच्छा रखते हैं?'' (तद्भव 26, अक्टूबर 2012, सम्पादकीय, पृ. प्टद्ध। अखिलेश के इस प्रश्न में ही शायद उत्तर भी छुपा हुआ है और वह यह कि 'शायद नहीं!'। जब हम पुरस्कारों, फैलोशिप, पदों, कमेटियों, विदेश यात्राओं, प्रशस्तियों, समीक्षाओं इत्यादि और उनके षड्यन्त्रों, रणनीतियों, तिकड़मों, गप्पों-अफ़वाहों के कोलाहल-कोहराम इत्यादि में फँसे रहेंगे, हमारा ध्यान जब इन्हीं सब पर संकेन्द्रित होगा तो भला यह कैसे सम्भव है कि हम अपनी अभिव्यक्ति के लिए पुकारते अपने समय के अनेकानेक जलते-उबलते मुद्दों, सिद्धान्तों, विचारों, संवेदनों, वाद-विवादों इत्यादि को सुन पाएँ या उन्हें सुनने की इच्छा रख पाएँ! एक समय में कोई एक जगह पर ही तो हो सकता है। हम या तो इधर ही रह सकते हैं या उधर ही। हम एक बार में कई-कई जगह एक साथ नहीं हो सकते। हालाँकि हिन्दी में अब यह करिश्मा भी देखने में आया है कि आप इधर भी हैं और उधर भी। आप एक साथ मार्क्सवादी भी हैं और हाथ में कई लपेटों वाला कलाया भी आपके बँधा है, साथ ही एक-एक उँगली में कई-कई मन्त्र-पूत नगों वाली अँगूठियाँ भी आपने पहनी हुई हैं। आप जातिवाद, सम्प्रदायवाद, पुरुषवाद, क्षेत्रवाद, गुटवाद यानी कि हर तरह की संकीर्णता के कट्टर विरोधी हैं, मंचों और सार्वजनिक अभिव्यक्ति के मौक़ों पर आप इन सबके प्रति बहुत प्रखरता, अकाट्य

तार्किकता और आक्रोश से भरे आलोचनात्मक बयान देते हैं लेकिन जैसे ही अपने व्यक्तित्व के गर्भ-गृह में घुसते हैं, एकदम इनके उलट आचरण आपका हो उठता है। घर में, अपने व्यक्तिगत स्तर पर आपका एजेंडा कुछ और होता है और बाहर और दूसरे लोगों के लिए कुछ और। आप बहुत धाँसू विमर्शमूलक रचनाएँ लिखते हैं, एकदम लगता है कि समाज की और समय की बहुत बारीक़ पकड़ आपके पास है लेकिन जैसे ही आपका आचरण और व्यवहारगत पहलू लोगों के सामने आता है, आपकी निजी प्रतिबद्धताएँ उजागर होती हैं, आपके लिखे की आधी ताक़त स्वाहा हो जाती है। यह बात किसी को तुरन्त समझ में नहीं आती, बहुत बाद में, तब आती है जब नई पीढ़ी नोटिस लेना बन्द कर देती है। नई पीढ़ी का नोटिस न लेना इस बात का सबूत होता है कि आप अप्रासंगिक हो रहे हैं। दरअसल बात यहाँ केवल आचरण और रचना-कर्म/विचारधारा के द्वैत या अन्तर्विरोध या आचरण के आधार पर किसी रचनाकार को कमतर सिद्ध करने या उसे गरियाने की नहीं है, जैसा कि अखिलेश अपने उक्त सम्पादकीय में हवा में तीर चलाते हुए-सा कहते हैं-''किसी के सृजन और कर्म की सीमाओं, अन्तर्विरोधों को उजागर करके उसे कमतर सिद्ध करने के बजाय उसके आचरण को मुद्दा बनाकर उसका आखेट करने के उदाहरण बहुतेरे मिलेंगे। समस्या वहाँ होती है जब केवल स्वयंभू आचारसंहिता को आधार बनाकर आघात किये जाते हैं और वह भी कई बार बगैर किसी तथ्य, आधार और प्रसंग के।'' (वही, पृ. प्प्द्ध।

पता नहीं, अखिलेश यहाँ किस घटना या व्यक्ति-विशेष की तरफ़ इशारा कर रहे हैं! कोई घटना या व्यक्ति-विशेष यहाँ है ज़रूर, जिसे लक्ष्यकर वे यह सब लिख गए। लेकिन बात दरअसल यह है ही नहीं। कम से कम हिन्दी में व्यक्तिगत आचरण के आधार पर किसी को कमतर सिद्ध करने का रिवाज़ अभी चला नहीं है। जिस दिन यह रिवाज़ चलना शुरू हो गया, हिन्दी में स्तरीय लेखकों का टोटा पड़ जाएगा! ख़ुद अखिलेश के ही हिसाब से पद, पुरस्कार, कमेटी, विदेश यात्रा, प्रशस्ति, समीक्षा इत्यादि को 'मानवीय गरिमा की कसौटी' (वही) माना जाए तो अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी की कितनी लेखक-प्रतिभाएँ इस पर खरी उतर पाएँगी! कोई चाहे तो कह सकता है कि पद, पुरस्कार, कमेटी, विदेश यात्रा, प्रशस्ति, समीक्षा इत्यादि तो मानवीय गरिमा की कसौटी नहीं, बल्कि मानवीय कमज़ोरियों के उदाहरण हैं। ठीक है, ये मानवीय कमज़ोरियाँ भी मानी जा सकती हैं। लेकिन फिर आप मंच पर या भाषा में इन्हें हिक़ारत से क्यों देखते हैं? फिर यह रोना क्यों कि इस कोलाहल-कोहराम में बहस के असल मुद्दे छूटे जा रहे हैं। मनुश्य है तो अच्छाइयों के साथ कमज़ोरियाँ भी स्वभावतः उसके साथ लगी हैं अतः यह कोई मसला ही नहीं! और इस तरह सारी बात जहाँ से चलती है, लौटकर वहीं आ लगती है। ऋण सारे गुणनफल को शुन्य में तब्दील कर देता है। यह दो नावों पर एक साथ सवारी करने का नतीज़ा है जो आजकल अमूमन दिखती नहीं हैं। भाई लोगों ने अपने व्यक्तित्व को इतना संश्लिष्ट बना लिया है कि ये छोटी-मोटी चीजें अब

उसमें आसानी से छिप जाती हैं। लेकिन मैं यहाँ दरअसल अखिलेश से एक क़दम आगे की बात कहना चाह रहा था और वह यह कि लेखक के व्यक्तिगत आचरण में यदि कोई अमानवीयता या मानवीय गरिमा-हीनता है तो यह ज़रूर से ज़रूर होना चाहिए कि वह गरिमा-हीनता किसी न किसी रूप में उसकी रचनाओं में अन्तन्र्यस्त हो। सृजन-प्रक्रिया का यह एक स्वाभाविक अभिक्रम है कि ये निजताएँ या व्यक्तिगत आचरणगतताएँ किसी न किसी तरह रचना में आती ही हैं। कोई कितनी भी चालाकी बरते, शब्दों का कोई कितना भी बड़ा खिलाड़ी क्यों न हो, कोई न कोई अभिव्यक्ति-संरचना वहाँ ऐसी वज़ूद में आ ही जाती है जो लेखक की चुगली खाने लगती है। शब्दों या पंक्तियों के मध्य, जिसे अंग्रेज़ी में 'इन विट्वीन द वड्र्स' और 'इन विट्वीन द लाइन्स' कहा जाता है, कुछ न कुछ ऐसा वहाँ ज़रूर होता है, जो पकड़ में यदि आ जाए तो सारा भेद खुल सकता है। मेरा ऐसा मानना है कि आलोचना बख़ूबी यह कर सकती है, बशर्ते कि उसके औज़ार समय-भेदी और शब्द-भेदी दोनों हों। वह ऐसे औज़ारों से लैस हो सकती है, बशर्ते कि वह साहित्य के साथ-साथ ज्ञान और संवेदन के दूसरे अनुशासनों और सन्दर्भों की समयनिष्ठ दीक्षा ग्रहण की हुई हो। वह एक ऐसी बहुलतावादी इतिहास-दृष्टि विकसित कर सके, जो रचना को उसकी समग्रता में स्वायत्त कर सके और उसकी अनिवार्यता और प्रासंगिकता को सामने ला सके। इसी तरह की इतिहास-दृष्टि लेखकीय व्यक्तित्व और व्यक्तिगतताओं की उन संश्लिष्टों को खोल सकती है, जिनका ज़िक्र ऊपर आया और जिनमें बहुत सारी अन्यथाएँ अनुस्यूत हुई चली आती हैं। आज इस तरह की इतिहास दृष्टि-सम्पन्न आलोचनात्मकता की निहायत ही ज़रूरत है क्योंकि समय की अन्दरूनी सतह को इसी से भेदा जा सकता है।

आज हिन्दी-पट्टी में दरअसल इसी इतिहास दृष्टि-सम्पन्न आलोचनात्मकता की कमी शिद्दत से महसूस की जा रही है। सुधीश पचैरी ने कुछ समय पहले 'वाक्' के अंक 3 (वाणी प्रकाशन 2008) के अपने सम्पादकीय में यह सवाल उठाया था। उन्होंने लिखा था-''हिन्दी क्षेत्रों के बौद्धिक अवसान में आलोचनात्मकता का अवसान क्या सोचने का विषय नहीं?'' अन्त में सारी बात को हालाँकि उन्होंने हिन्दी-आलोचना पर लाकर टिका दिया था और 'आलोचनात्मकता का अवसान' की थीसिस अधर में लटकी रह गई थी, जहाँ से बात शुरू की थी। जो हो। असल बात वही थी। इसके कोई चार साल बाद एक बार फिर यह बात 'तद्भव' के सम्पादक अखिलेश ने अंक 26 के अपने सम्पादकीय में ज़ोरदारी के साथ उठाई। अखिलेश ने लिखा-''हम इधर देख रहे हैं कि हमारे समूचे रचनात्मक पटल पर गम्भीर वैचारिक मंथन की परम्परा क्षीण होती जा रही है। इतिहास पर दृष्टि डाली जाए तो हिन्दी साहित्य अनेक ऐतिहासिक महत्व के विमर्शों, बहसों और विवादों से समृद्ध दिखेगा। किन्तु क्या हम ठीक इसी तरह नयी सदी के किसी नये विचारोत्तेजक वाद विवाद संवाद को भी रेखांकित कर सकते हैं जिसने साहित्य

जगत को मथा हो? अगर बीते एक दशक को साक्ष्य के रूप में लें तो दिलचस्प सचाई सामने आती है कि हमारे बीच न तो साहित्य की किसी नवीन सैद्धान्तिकी का जन्म हुआ न बड़े सरोकारों वाले विषय को लेकर वैचारिक संग्राम छिड़ा। बड़े वाद विवाद हुए भी तो उनकी पृष्ठभूमि में प्रायः आचरण सम्बन्धी समस्याएँ अधिक रहीं न कि चिन्तन और सृजन के बड़े प्रश्न।'' (अखिलेश, तद्भव 26, अक्टूबर 2012, सम्पादकीय, पृ. II) । चिन्तन और सृजन के बड़े प्रश्नों के अभाव का नतीज़ा यह हुआ कि रचनाएँ जड़ और ठस होने लगीं। आज ज़रूरत इस बात की है कि यह जड़ता टूटे, और ऐसा तभी हो पाएगा, जब बड़े वैचारिक मसलों की तरफ़ हम ध्यान दें-''बहरहाल जो भी हो; फलश्रुति यही है कि आज सृजन की दुनिया में जड़ता और नींद को तोड़ देने वाला कोई वैचारिक विस्फोट नहीं हो रहा है।'' (वही, पृ. III)। अखिलेश के कुछ ही महीने बाद ज्ञानरंजन इस बात को 'पहल' में उठाते हैं, जिसका हवाला पहले दिया गया। ज्ञानरंजन अपनी बात का समापन इस बात से करते हैं कि अब सम्भावनाएँ सिर्फ़ नई पीढ़ी से हैं, और वह भी ख़ुद रचनाकारों की नई पीढ़ी से; हालाँकि वे किसी वैचारिक विस्फोट की बात नहीं करते, उनसे सिर्फ़ इतनी पेशकश करते हैं कि वे आलोचना का कार्यभार भी अपने कन्धों पर वहन करना शुरू करें-''हमारा प्रयास है कि रचनाकार आलोचना में प्रवेष करें। हिन्दी में पहले भी आलोचना को रचनाकारों ने सँभाला था। बड़े उदाहरण हैं। मठों को टूटना ही होगा।'' (पहल 91, जनवरी 2013, पृ. 6)। ज्ञानजी की पेशकश तो ठीक है और ऐसा पहले हुआ भी है। लेकिन इसके खट्टे-मीठे अनुभव भी पाठकों को याद होंगे। जहाँ तक मुझे याद है, मोटे तौर पर योजनाबद्ध तरीक़े से ऐसा दो बार हुआ है। एक बार कविता में-छायावाद काल में और दूसरा कहानी में-नई कहानी काल में। यों रचनाकार हर युग में कमोबेश आलोचना में हाथ आज़माते रहे हैं लेकिन योजनाबद्ध तरीक़े से ऐसा यदा-कदा ही हुआ है। मुक्तिबोध एक अपवाद की तरह हैं। लेकिन उनका काम किसी पत्रिका या समूह की मुहिम के रूप में नहीं था, वह उनकी अपनी ख़ुद की रचनात्मक परियोजना का हिस्सा था जिसकी दूसरी कोई मिसाल हिन्दी में नहीं मिलती। मुझे नहीं लगता कि ज्ञानरंजन जिस नई पीढ़ी को आलोचना में आने का न्योता दे रहे हैं, वह वैचारिक विस्फोट जैसा कुछ कर पाएगी। हाँ, वह अपनी आलोचना द्वारा अपने ख़ुद के लेखन को ज़रूर डिफ़ेंड कर सकती है और वह भी ख़ुद अपनी जगह को सुनिश्चित करने और उसकी सुरक्षा के लिए। हिन्दी-पट्टी में आलोचनात्मकता के अवसान से जुड़े या साहित्य जगत को मथने वाले चिन्तन और सृजन के बड़े प्रश्नों और बड़े सरोकारों वाले विषयों से लैस किसी नए विचारोत्तेजक वाद विवाद संवाद को वह सम्भव कर पाएगी, इसकी फ़िलहाल केवल शुभाशंषा की जा सकती है। वह ऐसा कर पाए, सबको ऐसी उम्मीद करनी चाहिए।

नई पीढ़ी से उम्मीद की प्रत्याशा में हिन्दी-आलोचना से जुड़ी एक ग़ज़ब हक़ीक़त की ओर मैं उसका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। वह हक़ीक़त है, हिन्दी आलोचना में व्याप्त उपनिवेशवाद। यों तो अनेकानेक लोगों ने इस बात को अपने लिखे और बोले में उठाया है लेकिन यहाँ उदय प्रकाश मुझे ख़ास तौर से याद आ रहे हैं। इसका कारण शायद यह होगा कि उदय प्रकाश अनेक लोगों की निगाह में हिन्दी-आलोचना को पानी पी-पीकर कोसने वाले रचनाकार हैं। जो हो। हम यहाँ काम की बात करें। आलोचना की स्वदेशीयता भी कोई चीज़ है, इस पर विचार करना किसी भी अर्थ में संकीर्ण होना नहीं है। आलोचना की स्वदेशीयता का अर्थ है, अपने देश, काल की विशिष्ट राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक इत्यादि स्थितियों-परिस्थितियों के मद्देनज़र रचना को देखना। बाहर से आयत्त विचारधाराओं, धारणाओं, अवधारणाओं इत्यादि का स्वागत है किन्तु अपनी स्वयं की देश-काल-परिस्थितियों इत्यादि के विशेष सन्दर्भ और प्रसंग के अनुसार। ऐसा नहीं कि मापदण्ड किसी और देशकाल-परिस्थिति की देन हों और किसी और देश, काल, परिस्थिति में पैदा साहित्य को उसकी कसौटी पर कसने की हम कोशिश करें। क्योंकि दरअसल हर देश, काल, परिस्थिति साहित्य के साथ-साथ उसकी कसौटी भी पैदा करती हैं; आवश्यकता उन्हें तलाशने और खँगालने की होती है। हम सिर्फ़ यही नहीं करते और एक सरल और अकष्टकारी और तैयारशुदा निकष उधार लेकर उनके साँचे में ख़ुद को सटाते रहते हैं। ओम निश्चल के साथ अपने एक लम्बे साक्षात्कार 'कथा अपने समय को भाषा में लिखने का आख्यान है' (अपनी उनकी बात; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2008; पृ. 95-135) में अपने स्वयं के तथा अन्य सन्दर्भों में इस सम्बन्ध में विस्तार से उन्होंने बात की है। अपने एक लेख 'हिन्दी में सभ्यता-समीक्षा का विरल उदाहरण: उदय प्रकाश' में मैंने इस बाबत पहले विचार किया है। यहाँ इस लेख के इस अंश को पुनप्रर्स्तुत किया जाना असंगत नहीं होगा। यह अंश यह है- '××× यह आवश्यक है कि कुछ किया जाए कि 'आलोचना की मुख्य समस्या 'एकेडेमिक्स' और 'आब्जेक्टिविटी' की कमी' (वही; पृ. 143) से निज़ात पाई जा सके।

उदय प्रकाश उक्त के अतिरिक्त तथा इससे भी महत्वपूर्ण और इसकी असल जड़ पर इससे पहले ही इस इण्टरव्यू में ही प्रहार कर चुके हैं। वह असल जड़ है- आलोचना का औपनिवेशीकरण। प्रसंग यह था कि ओम निश्चल द्वारा यह प्रश्न किया गया कि आपकी कहानियों में फैंटेसी कला की जो कोशिश की गई है, उसकी प्रेरणा कहाँ से ली गई है? क्योंकि हिन्दी में तो इस कला का अभाव दिखाई देता है। इसका मतलब यह किन्हीं दूसरी भाषाओं से ली गई है! (उधार)। (द्रश्टव्य; वही; पृ. 107)। उदय प्रकाश जैसे इस सवाल पर बिफर जाते हैं और दे-दनादन ऐसे-ऐसे तथ्य खोलते चलते हैं कि हिन्दी-आलोचना के पूरे स्वरूप पर नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता महसूस होने लगती है। कहते हैं-''जिस जादुई यथार्थवाद को हिन्दी की कहानी में लाने का अभियोग मेरे ऊपर कुछ

आलोचकों द्वारा लगाया गया, उसका आधार यह था कि जैसे यह कोई विदेशी शैली है। मैंने तब भी कहा था और आज भी इसे दुहरा रहा हूँ कि इसके पीछे स्वयं हिन्दी आलोचना का वह मस्तिष्क काम कर रहा था, जो अभी तक अपने औपनिवेशिक अतीत से मुक्त नहीं हो पाया है। यथार्थवाद, आलोचनात्मक यथार्थवाद, स्वच्छन्दतावाद, नई समीक्षा आदि-इत्यादि वे आलोचनात्मक पद (टर्म) हैं जो सीधे-सीधे पश्चिम की नकल से आए हैं।'' (वही; पृ. 108)। इसके ठीक आगे वे नामवर सिंह की किताब 'कविता के नए प्रतिमान' में निबद्ध 'शीतयुद्ध की सारी बासी और व्यर्थ हो चुकी भाषा तथा एलेन टेट, जॉन का रैसम, एफ. आर. लीविस जैसे माक्र्सवादी नहीं बल्कि अमेरिकी नव-समीक्षकों की उधार ली हुई पदावली' (वही) की बात उठाते हैं और निष्कर्श देते हैं कि ''आश्चर्य है कि हिन्दी आलोचना के औपनिवेशीकरण पर कभी कोई रचनाकार और आलोचक प्रश्न नहीं उठाता।'' (वही)। अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए वे फिर कहते हैं कि ''आलोचना दरअसल पश्चमी पदावलियों से आक्रान्त है, उसके पास ऐसा कुछ भी नहीं जो मौलिक हो, ऐसा कुछ भी नहीं, जो स्वतन्त्रता के बाद के अकादमिक अनुशीलन, शोध और सृजनात्मक अनुचिन्तन के परिणाम से उपजा हो। उसने अब तक पश्चमी रेडीमेड गारमेंट से काम चलाया है। मैं तो कहना चाहूँगा कि स्वदेशीकरण की सबसे पहली जरूरत हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में है।'' (वही; पृ. 109)।

उदय प्रकाश की स्वदेशी आलोचना की परिभाषा की पड़ताल यदि की जाए तो यह एक सुखद आश्चर्य हमें अनुभव होगा कि उसमें एक प्रकार की वैश्विक वर्गगतता और इसी के अन्तर्गत यूरोपीय औद्योगिकीकरण और पश्चिमी आधुनिकता से उत्पन्न आख्यान शैली के विकल्प के बतौर तीसरी दुनिया के लातिन अमरीकी देशों और इसी के साथ भारतीय समाज की परम्परागत और अत्यन्त ही समृद्ध और सशक्त जादुई यथार्थवाद की आख्यान शैली को प्रस्तुत करते हैं। यह विकल्पधर्मिता अपने स्वयं के देशकाल-वातावरण का अनिवार्य तक़ाज़ा है। यह स्वदेशीयता नस्लवादी और सम्प्रदायवादी नहीं है; जैसा कि मैंने कहा, यह अपनी स्वयं की ज़रूरतों के हिसाब से अपना रास्ता ख़ुद तलाशने की एकदम आवश्यकीय प्रक्रिया के अन्तर्गत है। जादुई यथार्थवाद की इस प्रकार की अभिव्याख्या हिन्दी में अन्य लोगों ने भी की है। यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उदय प्रकाश भारतीय समाज को भी इस प्रविधि का हिस्सा मानते हैं। कहना न होगा कि भारत के सम्मिलित होते ही यह प्रविधि/आख्यान शैली एक प्रकार की वैश्विक्ता ग्रहण कर लेती है। एक ऐसी वैश्विक्ता, जो न केवल वैकल्पिक है बल्कि प्रतिरोधी और प्रतिदर्शी भी है। उदय प्रकाश लिखते हैं-''गगग जादुई यथार्थवाद तो तीसरी दुनिया के उन लातीनी अमेरिकी देशों की आख्यान शैली थी, जिसे औपनिवेशिक सांस्कृतिक दासता से अपने आख्यान को मुक्त करने की चेष्टा में वहाँ के कथाकारों ने निर्मित किया था। उसका सबसे बड़ा कारण यह था कि यूरोपीय देशों से आयातित या थोपी गई

आख्यान शैली में, जो कि वस्तुतः वहाँ के औद्योगिकीकरण और पश्चिमी आधुनिकता के गर्भ से निकली आख्यान शैली थी, वह तीसरी दुनिया के समाजों के यथार्थ को व्यक्त कर पाने में समर्थ नहीं थी। क्योंकि वे समाज अभी भी पारम्परिक समाज थे, पिछड़े हुए थे। आधुनिकता ने उन्हें पूरी तरह रूपान्तरित नहीं किया था यूरोप की तरह।'' (वही; पृ. 108)।

अपने भारतीय समाज को इस अनुक्रम में जोड़ते हुए उदय प्रकाश ने लिखा-''हमारा समाज भी, यह न भूलें कि एक पूर्व आधुनिक (आधुनिकेतर) ग़रीब परन्तु पारम्परिक समाज है। लेकिन मिथकों, लोकगाथाओं, दन्तकथाओं, पौराणिक किस्सों आदि से सम्पन्न इस समाज की सामुदायिक स्मृतियों की विपुल विविधता का कोई मुकाबला पश्चिम का एकात्मक नहीं कर सकता। उनकी सभ्यता और संस्कृति की जड़ें भी उतनी गहरी नहीं हैं जितनी हमारी या पूरब के देशों की हैं।'' (वही; पृ. 108-09)। और इसके आगे अपने स्वयं के बारे में- अपनी आख्यान शैली के विषय में- जो कुछ वे कहते हैं, वह एक प्रकार से एक मौलिकता या खाँटीपन की खोज का एक प्रकार का दुर्लभतम प्रयास ही कहा जाएगा। अपनी आख्यान शैली के विकास की प्रक्रिया का खुलासा करते हुए यह जो कुछ वे लिखते हैं, वह एक बेमिसाल वाक़या ही कहा जा सकता है; ख़ास तौर से हिन्दी के निरन्तर औपनिवेशीकरण के स्वदेशी प्रतिरोध के मद्देनज़र-''मैंने 'वारेन हेस्टिंग्स का साँड़' कहानी लिखते हुए मिथक और यथार्थ के सम्मिश्रण के माध्यम से एक दूसरे धरातल पर पश्चिम और पूरब के मुठभेड़ को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया और इसकी मूल प्रेरणा मुझे कहीं विदेश से नहीं, अपनी ही भाषा के एक ऐसे लेखक से मिली थी, जिसे हिन्दी के आलोचक कथाकार या उपन्यासकार तक नहीं मानते जबकि मेरी दृष्टि में भारतीय उपन्यास की आख्यानात्मक संरचना के धरातल पर वह सबसे विलक्षण और अपूर्व कथाकार हैं। उनका नाम है आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी। 'चारु चन्द्रलेख', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में उन्होंने इतिहास और पुराण, स्वप्न और यथार्थ, अतीत और वर्तमान को मिलाकर एक ऐसी ही कथालीला का अद्भुत आविश्कार किया था।'' (वही; पृ. 109)। कोई आलोचक यदि कोशिश करता तो 'वारेन हेस्टिंग्स का साँड़' की यह कथालीला-आधारभूमि बाक़ायदा खोजी जा सकती थी। लेकिन किसे इतनी फुर्सत है कि वह इस तरह का मौलिक योगदान वाला काम कर सके। सब सुनी-सुनाई और कही-कहाई बात पर लकीर के फकीर की तरह चलते रहते हैं। लगभग यही कारण है कि हिन्दी आलोचना में मौलिक उद्भावनाएँ कभी-कभी ही और बमुश्किल ही आ पाती हैं। उदय प्रकाश ने खिन्नता के साथ लिखा-''लेकिन जब आलोचकों की निगाह अपनी पार्टी, सत्ता-संस्थान और निजी स्वार्थों में लगी हो तो किसी रचनाकार पर आरोप लगाने के पहले उसकी रचना का अनुचिन्तन कोई क्यों करे!'' (वही)। निष्चय ही इस 'कथालीला' के भारतीय सन्दर्भों की खोज करना और तदनुसार कहानियों और उपन्यासों की पुनर्व्याख्या न

केवल बेहद दिलचस्प होगी बल्कि कथा की रचना-प्रविधियों के कई नए क्षितिज भी इससे खुल सकेंगे। (इस लेख के लिए देखें- कथाक्रम; अक्टूबर-दिसम्बर, 2015; पृ. 48-56)।

यह दरअसल एक लम्बी बहस है जिसका सम्बन्ध लेखक-आलोचक व्यक्ति से भी है और लेखक-आलोचकों के समूह यानी लेखक संगठनों से भी है। एक समय था जब लेखक संगठन हमारे यहाँ इस भूमिका में थे कि वे रचना और आलोचना और विचार के एक प्रकार के अनौपचारिक प्रषिक्षण केन्द्र थे। आज़ादी के पहले से लेकर और उसके बाद काफी लम्बे समय तक इन्होंने अपनी यह शानदार भूमिका निभाई। लेकिन पिछले लगभग बीस-पच्चीस सालों से उनकी इस भूमिका पर जैसे लगातार कोई ग्रहण लग गया है। और पिछले दषक से तो जैसे इन्हें एकदम अप्रासंगिक और ग़ैर-ज़रूरी बना दिए जाने का अभियान चल रहा है और इसमें हमारे अनेकानेक लोग शामिल हैं; यहाँ तक कि हमारे लेखक संगठनों से जुड़े अनेक लोग भी यहाँ आवाजाही करते देखे गए हैं। यह एक नई परिस्थिति है, जिसमें कार्पोरेट वर्चस्वकारी भूमिका में है। संकट यह है कि हमारे लोगों ने इस स्थिति को स्वीकार कर लिया है, बल्कि कई जगह तो यह भी देखने में आया है कि हमारे लोग कार्पोरेट के साहित्यिक कार्यक्रमों -ईवेण्ट्स- के सलाहकार, संयोजक, संचालक, प्रवक्ता इत्यादि बनते चले गए हैं। इन ईवेण्ट्स में भाग लेने, इनके आमन्त्रण प्राप्त करने, इनमें महत्व की जगह बनाने की आपाधापी भी लोगों में देखी गई है। प्रसिद्ध और पाठकों के बीच पर्याप्त लोकप्रिय पत्रिका 'मंतव्य' ने अपने अभी-हाल के एक ताज़ा अंक में इस मुद्दे को शाइस्तगी के साथ उठाया है। हरेप्रकाश उपाध्याय ने अपने सम्पीदकीय में लिखा है-''अब विचारहीन लिटरेचर फेस्टीवल, कार्निवाल, सरकारी साहित्यिक उत्सवों का दौर आ गया है, जहाँ उड़नखटोले से उड़कर लेखक जाता है, पंचसितारा या तीनसितारा होटलों में रुकता है और कुछ खाते-पीते हुए साहित्य पर शालीन वक्तव्य देता है।'' (मंतव्य-6, सितम्बर 2016; पृ. 004)। इससे पहले के समय को याद करते हुए इससे पहले इसी सम्पादकीय में हरेप्रकाश ने लिखा था-''एक दौर था, जब छोटी-छोटी जगहों में सक्रिय रचनाकारों और कलाकारों की वैचारिक प्रतिबद्धता, संघर्ष और उनकी गहमागहमी देखते बनती थी। ××× छोटी-छोटी जगहों से तमाम छोटी पत्रिकाएँ, बुकलेट, पर्चे निकलते थे, वहाँ सेमिनार और धुआँधार वैचारिक बहसें होती थीं, बड़े-बड़े रचनाकार देशभर से अपने खर्चे से साधारण क्लास की रेलगाड़ियों में बैठकर आते थे और उनमें शामिल होते थे। संवाद होता था। एजेंडे तय किये जाते थे। वह सब माहौल कहाँ गया?'' (वही)।

हरेप्रकाश उपाध्याय की विशेषता यह है कि यहाँ बात को वे समग्रता और उसकी संश्लिष्ट बहुआयामिता में उठाते हैं। साहित्य हो या सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, या समकालिक कोई और गतिविधि या नीति या कार्यक्रम या योजना-परियोजना; ये सब चीजें एक-दूसरे से अनिवार्यतः जुड़ी होती हैं या एक-दूसरे को अनिवार्यतः प्रभावित

करती हैं। किसी एक कालखण्ड-विशेष में ये सब चीजें परस्पर संक्रमित होती ही हैं। आज का समय भी इससे अछूता नहीं है। मसलन, हरेप्रकाश जब लिटरेचर फेस्टिवल, कार्निवाल इत्यादि की बात कर रहे थे तो उसी से नत्थी यह अंश भी उसके तत्काल बाद आता है-''उसी तरह राजनीति के पास भी अब कोई सपना शायद ही शेष बचा हो। वहाँ बची है तो सिर्फ़ सत्ता में आने या बने रहने की जोड़-तोड़-जुगाड़।'' (वही)।

लेकिन बात सिर्फ़ सत्ता के लालच की नहीं है। वह पैदा कैसे हो रहा है या किया जा रहा है, इसकी भी है; बल्कि असल पते की बात यही है। एक तरह से देखा जाए तो 'सबहिं नचावत राम गोसाई' की तर्ज़ पर सबहिं नचावत कार्पोरेट गोसाईं जैसी स्थिति है। साहित्य पर क़ब्ज़े से पहले आम जनजीवन के लगभग सारे ही हलकों में वह सर्वतोभावेन वर्चस्व की स्वीकार्यकारी स्थिति में आ चुका है। हमारी रोज़मर्रा की ज़रूरतों से लेकर हमारी बौद्धिक गतिविधियाँ उसी के नेतृत्व में संचालित हो रही हैं। यह सारा प्रक्रम अब इतना बाध्यकारी और स्वाभाविक-सा हो चला है कि हमें इसमें कुछ अज़ीब लगना लगभग बन्द हो गया है। हम स्वयं अब इस स्थिति में आते जा रहे हैं कि हमें भी यह लगने लगा है कि इस दुनिया पर राज करने की कला तो इन्हीं के पास है! हम इनके एजेण्डे पर चलें, यही बेहतर होगा! हरेप्रकाश लिखते हैं-''इन स्थितियों ने साधारण जनों के आत्मविष्वास को भी बुरी तरह रौंदा है। अब हर आदमी हर बात के लिए कारपोरेट्स का, बड़ी कम्पनियों का, ब्रांड का, मॉडल का मुँह देखने लगा है। उसका अपनी क्षमता से, अपने श्रम से, अपनी चीज़ों से, अपने संघर्ष और अपनी समझ से भरोसा लगातार उठता जा रहा है। आत्मनिर्भरता गये दिनों की चीज़ हो गयी है। किसान अब अपनी बीज पर भरोसा नहीं करता, अपने देसी खाद पर भरोसा नहीं करता। हम अपने खेतों में उगाये गये अनाजों पर भरोसा नहीं करते। हमें कारपोरेट बाज़ार की चकाचैंध ने, ब्रांड ने और उनके विज्ञापनों ने इतना झिंझोड़ दिया है कि हमें लगता है कि बड़ी कंपनियाँ चमकीली पैकिंग में जो चीज़ देंगी, वही बेहतर है।'' (वही)। कारपोरेट अपने मक़सद में सफल है। वह हमारे इसी आत्मविष्वास और आत्मनिर्भरता को ही तो तोड़ना चाहता था! लेकिन बात केवल यथार्थ-निरूपण की नहीं है; बात इस पूरे सुनियोजित माहौल में अपना एक स्टैण्ड लेने की भी है, जो कि हम अमूमन नहीं कर पाते। हरेप्रकाश की तारीफ़ यह है कि वे एक साफ़ स्टैण्ड लेते हैं और हमें आत्मालोचन, आत्मनिरीक्षण के लिए उत्प्रेरित करते हैं-''यह और कुछ नहीं, हमारी अहसास-ए-कमतरी है, जो इस बाज़ार की चकाचैंध ने पैदा किया है।'' (वही)। इस अहसास-ए-कमतरी ने जो स्थिति पैदा की है, उसका ज़िम्मेदार कौन है? लगता है, जैसे यह एक मनोवैज्ञानिक युद्ध है, जो हमारी ही शर्तों और सहमति के तहत हमें परास्त और नेस्तनाबूद किए जाने की प्रक्रिया के बतौर चल या चलाया जा रहा है। यह प्रक्रिया एक बेहिसाब और रहस्यमय दुश्चक्र की तरह है, जिसका निर्माता और नियन्ता कॉरपोरेट है। कॉरपोरेट सब को चला रहा है। वह सबको मैनेज कर रहा है। एक तरफ़ सरकार को, एक तरफ़

मीडिया को, एक तरफ़ संस्कृति को, एक तरफ़ सामाजिक गति को, धर्म को; इत्यादि-इत्यादि। कारपोरेट ग़ज़ब तरीक़े से केन्द्र में है। सब उसी का जयकारा बोलने में जुटे हैं। ऐसी स्थिति में इज़्ज़तदार, हयादार, मूल्यनिश्ठ और आम जीवन-शैली के अभ्यस्त लोग आत्महत्या न करे तो क्या करें? समाजविज्ञान का एक सिद्धान्त यह भी है कि बेईमान, दलाल, चोर, चाकर, दोगला इत्यादि होने से पहले और उसके स्थान पर कुछ लोग अपना जीवन त्याग देना ज़्यादा अच्छा समझते हैं। जैसे पुराने लोग अमूमन कहते मिल जाते हैं कि यह दिन देखने से पहले मैं मर क्यों नहीं गया! या, या ख़ुदा! इससे तो अच्छा है, तू मुझे उठा ले! इत्यादि। इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्महत्या कोई श्लाघनीय या स्वागत-योग्य क़दम है। आत्महत्या एक विशेष अर्थ में मूल्यनिश्ठ व्यक्ति का एक तरह का इन्तिहाई प्रतिरोध है, एक ऐसा प्रतिरोध कि आपको साँप सूँघ जाए! आपकी व्यवस्था को एकबारगी लानत भेजती व्यक्ति की नितान्त ऐकान्तिक कार्रवाई! हालाँकि दुनिया के अनेक संविधानों में आत्महत्या एक ग़ैरक़ानूनी कृत्य है और इसमें सज़ा का प्रावधान है। लेकिन सज़ा आप देंगे किसे? मरने वाला तो आपको आपकी औक़ात दिखाकर चला गया! जो हो। मज़े की बात यह है कि हमारे ही वोट से चुनी हुई सरकारें अब खुल्लमखुल्ला हमारे विरुद्ध काम करने लगी हैं। या यों कहें कि काम तो दरअसल वे कारपोरेट के हित-साधन के सिलसिले के तहत कर रही हैं पर कारपोरेट का हित यदि आम जनता के हितों के विपरीत जा रहा हो, तो इसमें भला कोई क्या कर सकता है! सरकारें सिर्फ़ यह नहीं करतीं कि वे जनता के साथ धोखाधड़ी करती हैं, बल्कि प्रचार-प्रसार के अपने और अन्य साधनों के मार्फ़त बाक़ायदा इसकी वैधता और राष्ट्रहित में इसकी आवश्यकता का प्रतिपादन भी करती-कराती हैं। मीडिया किसी चारण या भाट या भाड़े के टट्टू या कमीशन एजेण्ट या दलाल या फ्रेंचाइज़ी की तरह इनके रथ में जुत जाता है। राजनीति या मीडिया या विभिन्न सत्ताओं और संगठनों से जुड़े लोग -जो कि ज़्यादातर मध्यवर्ग से होते हैं पर धीरे-धीरे लालच और महत्वाकांक्षाओं के चलते ऊपर छलाँग लगाते हुए अपने लोगों से कटते जाते हैं- कारपोरेट के शामियाने के नीचे ख़ुशी-ख़ुशी इतराते देखे जाते हैं। यहाँ तक कि कारपोरेट की बहुत सारी बलाओं को अपने ऊपर लेकर अपना जीवन धन्य समझने की मानसिकता में आते जाते हैं। कारपोरेट दरअसल यही तो चाहता होता है। एक तरह से देखा जाए तो मध्यवर्ग का समूल नाश और उसे अपने शीशे में उतारना और उसे काट-पीटकर, तराश कर अपने साँचे में ढालना कारपोरेट का मिशनरी उद्देश्य होता है। मध्यवर्ग को नेस्तनाबूद कर वह अपना वर्तमान और भविश्य निरंकुश कर लेना चाहता होता है। यह एक बहुत ही सामान्य प्रक्रिया है। आज अन्तर सिर्फ़ यह आया है कि, जैसा कि कहा गया, यह सब हमारी सहमति और स्वीकृति से किया जा रहा है। आगे चलकर हम इस पर किसी तरह का कोई उज्र नहीं कर सकते। (ऐन्टोनिया ग्राम्शी की अवधारणाएँ यहाँ याद की जा सकती हैं।))। एक तरह से हमारे हाथ ही काट लिए जा रहे हैं। स्वदेशी निज़ाम इसमें लगातार दोग़ली भूमिका निभाता रहा है बल्कि अब तो वह खुलकर और डंके की चोट कारपोरेट के पक्ष में आ गया है। कारपोरेट का सबसे

बड़ा फेसिलिटेटर आज स्वदेशी सरकारें हैं। इस पूरी प्रक्रिया और प्रक्रम पर युवा हिन्दी सम्पादक की चैकस नज़र है-''इस कारण छोटे-मोटे काम-धन्धे वाले लोग अपना काम छोड़ने को विवश हैं, जबकि उनके पास कोई बेहतर विकल्प भी नहीं है। इसका सीधा फ़ायदा कारपोरेट्स को ही मिल रहा है। इनके दुश्चक्र में फँसकर किसान मज़दूर लगातार आत्महत्याएँ कर रहे हैं। और हमारी सरकारें इन घटनाओं पर लीपापोती कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेती हैं। बल्कि सरकारें तो उन्हें शोषण-शिकंजा मज़बूत करने के लिए हर तरह की सुविधाएँ ही दे रही हैं। उनके अनुकूल और श्रमिक हितों के प्रतिकूल नीतियाँ बनाई जा रही हैं। सरकारी उद्यमों को कमज़ोर किया जा रहा है। लोगों तक ये सब बातें विस्तार से पहुँच नहीं पातीं। इसे ढँकने के लिए मीडिया में फालतू बहसें प्रायोजित होती हैं। नकली मुद्दे खड़े किए जाते हैं। तरह-तरह के ड्रामे चलते रहते हैं।'' (मंतव्य-6, सितम्बर 2016; पृ. 004)।

इस सारे दुश्चक्र का असल मक़सद क्या है? इस असल मक़सद को जानना बेहद ज़रूरी है, क्योंकि यह एकदम नई चीज है। यह नवपूँजीवाद और एक नए क़िस्म के उपनिवेशवाद का मूलभूत अभिलक्षण और उपलक्ष्य है। यह है-कहीं से भी किसी भी तरह के कितने ही प्रतिरोध का ख़ात्मा। प्रतिबद्धता और मूल्यबद्धता से निज़ात। सत्य को अनावश्यक और अप्रासंगिक क़रार देना। सत्य, प्रतिबद्धता और प्रतिरोध यथास्थिति को तोड़ने और परिवर्तन की प्रक्रिया के संघटक तत्व हैं। इन्हें सिरे से उखाड़ फेंकना नवपूँजीवाद का लम्बा कार्यक्रम है। राजनीति, विशेषतः सत्ताधारी और सत्ता की दौड़ में लगी राजनीति, बड़े पैमाने पर इसे हवा दे रही है। ऐसा लगता है, जैसे यह आज के हमारे नाकस समय का बड़े पैमाने पर विभिन्न एजेंसियों द्वारा कोलेबोरेट किया जाता एक बहुत ही बड़ा संयुक्त कार्यक्रम है, जिसमें न जाने कौन-कौन शामिल है। घर से लेकर राज्य तक सबको एक साथ, एक तरह घेरने की योजना है। साहित्य और कला-संस्कृति एक ख़ास तरीक़ से निशाने पर है, क्योंकि सत्य, प्रतिबद्धता, प्रतिरोध इत्यादि इसी के दायरे में आते हैं। इनको कैसे बराबर किया जाए, इसमें तरह-तरह के प्रयोग जारी हैं-''मनोरंजन का भरपूर इन्तज़ाम किया गया है। कारपोरेट्स जगत इसी मंशा के तहत धर्म-अध्यात्म और कला-साहित्य-संस्कृति में भी रुचि ले रहा है। वे चाहते हैं कि हर चीज़ को उत्सव में, मनोरंजन में, व्यापार में बदल दें ताकि वहाँ सक्रिय लोग भी किसी नैतिकता और सच्चाई की बात न कर सकें या इसके लिए उनके पास कोई गुंज़ाइश ही न रहे, अवकाश ही न रहे। ताकि कहीं से कोई प्रतिरोध की आवाज़ न पैदा हो। इसके लिए वे बड़े-बड़े पैकेज़, योजनाएँ, अवसर, आयोजन और पुरस्कार लेकर आ रहे हैं। सबकी औकात तौल कर वे ख़रीदने में लगे हैं।'' (वही)।

लेखक संगठनों की यह भूमिका होती है कि वे इस सारी स्थिति का लगातार नोटिस लें और लेखकों और आम लोगों को भी इसके ख़तरों से आगाह कराएँ। लेखक संगठन सिद्धान्त या अवधारणाओं के स्तर पर पर्याप्त चैकस होते हैं। यह सावधानी और तार्किकता इस प्रक्रिया से आती है कि संगठन से जुड़े लोग लगातार बहसें चलाते हैं,

वाद-विवाद और संवाद का एक क्रम हमेशा ज़ारी रहता है। ख़ास तौर से नई पीढ़ी के युवा साथियों के लिए ये बहसें और संवाद बहुत ही काम के और दृष्टि-निर्माण में सहायक होते हैं। नए व अधुनातन विमर्शों से सब लोग परिचित होते चलते हैं। इसका सबसे बड़ा फ़ायदा यह होता है कि हमारी समझ लगातार तीखी होती चलती है। यह प्रकिया रुकती है तो जैसे समझ के साफ़ होने की प्रक्रिया भी रुक जाती है। इस लेख के प्रारम्भ में जिस आलोचनात्मकता के अवसान की बात की गई है, उसकी एक बड़ी वज़ह यह भी रही है कि हमारे यहाँ यह प्रक्रिया अरसे से थमी पड़ी है। लेखक संगठन एक तरह के बौद्धिक/वैचारिक प्रशिक्षण के केन्द्र हुआ करते हैं। एक समय था, जब सचमुच ही हमारे लेखक संगठन ऐसे थे। तब वे उठापटक, पुरस्कार, नियुक्ति, विदेश यात्रा, सरकारी चम्पी, परस्पर धन्यधान्यता जैसी बीमारियों से मुक्त थे। तब वे जाति, वर्ग, जेण्डर, क्षेत्र, नस्ल इत्यादि के मकड़जाल से काफी-कुछ अछूते थे। प्रेमचंद ने सन् छत्तीस के अपने प्रसिद्ध भाषण में लेखक, लेखक संगठन और लेखन के बारे में जो बातें कही थीं, उन पर अमल होता था। ये प्रतिरोध की प्रेरणा के स्रोत बने थे। लेकिन देश के अन्य क्षेत्रों में क्षरण की तरह ये संगठन भी क्षरण की चपेट में आने लगे। धीरे-धीरे संगठन की मूल भावना तिरोहित होती चली और इतिहास की वस्तु बनने जैसी हालत में आने लगी। लेखक संगठन अखाड़ेबाज़ों के क़ब्ज़े में आते चले गए। कुछ लोगों के लिए ये उपयोग के मंच से ज़्यादा कभी कुछ नहीं रहे। यानी कि इन संगठनों का वह चरित्र जो प्रतिरोध और हस्तक्षेप का उत्प्रेरक था, अब सत्ता/व्यवस्था के साथ समायोजन के अकल्पनीय वाक़ये में बदलता चला गया। दरअसल वह माहौल अलग ही था। तब घर से लेकर राजनीति तक गहमागहमी थी। यह समय काफ़ी दिनों तक रहा। लेखक संगठनों की भी इसमें भरपूर भागीदारी थी। हरेप्रकाश लिखते हैं-''छोटी-छोटी जगहों के राजनीतिक कार्यकर्ताओं का जोष और जज़्बा देखते बनता था। वे वेचारिक सरगर्मियों और सपनों से ओतप्रोत थे। छोटी-छोटी जगहों में प्रतिरोध की व्यापक आवाज़ें थीं, जो स्थानीय से लेकर वैश्विक संकटों के ख़िलाफ़ एकजुट हाती थीं।'' (वही)। आज वह दौर ख़त्म है तो लेखक-समाज में ही नहीं बल्कि हर तरफ़ एक मनहूस मायूसी-सी पसरी है। सम्भावनाएँ अन्तिमतः तो कभी भी ख़त्म नहीं होतीं, बदलाव और प्रतिरोध कभी भी, किसी भी तरफ़ से आ खड़ा हो सकता है। लेकिन यह एक कड़वी हक़ीक़त है कि यह मौज़ूदा समय बेहद ही निराशाजनक और नाकस है। ऐसे समय में लेखकों तथा लेखकों के संगठनों की भूमिका और ज़्यादा बढ़ जाती है कि वे शब्द की दुनिया से कर्म की दुनिया में भी उतर लें और राजनीतिक कार्यकर्ता की हैसियत में आ जाएँ। हो सकता है, आम लोगों में इससे एक नई आषा और उत्प्रेरणा का संचार हो ले-''साधारण जनों के लिए धीरे-धीरे भयानक अँधेरा और विकल्पहीन समय आ रहा है। प्रतिरोध की आवाज़ें भी नकली बहसों में, निजी स्वार्थों में उलझी जान पड़ती है।'' (वही)। लेखक संगठनों की भूमिका हालाँकि ज़्यादातर नेपथ्य वाली ही सुनिश्चित की गई है लेकिन जब-जब वह मंच पर सीधे कथावस्तु का हिस्सा बनता है तो गज़ब ढा देता है, इसमें भी क़तई कोई

सन्देह नहीं है। हो सकता है, तब वह स्थिति भी पैदा हो ले जिससे कि नई सैद्धान्तिकी का जन्म होता है या बड़े सरोकारों वाले विषय को लेकर वैचारिक संग्राम छिड़ता है; जिसकी अपेक्षा अखिलेश अपने सम्पादकीय में करते हैं, जिसका कि उल्लेख पीछे इस लेख में आया है। यदि ऐसी स्थिति पैदा होती है तो ज्ञानरंजन की भी बहुत-सारी षिकायतें दूर हो सकती हैं। क्योंकि दरअसल प्रतिरोध और हस्तक्षेप अँधेरे और विकल्पहीन समय का सबसे बड़ा इलाज़ है। लेखक संगठन यदि तय कर लें और अपनी सीमाओं से निज़ात पा लें तो निश्चय ही उजाले और विकल्प की गुंजाइश पैदा हो सकती है।

नई पीढ़ी की बात इस लेख में ज्ञानजी के हवाले से ऊपर की गई। हरेप्रकाश उपाध्याय उसी नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह बहुत ही उत्साहवर्द्धक स्थिति है कि नई पीढ़ी अब ख़ुद आगे आकर समय के केन्द्रीय सवालों को न केवल उठा रही है बल्कि रचनात्मक और वैमर्शिक स्तर पर उनसे जूझना भी चाहती है। मेरा ख़याल है कि युवा पीढ़ी की इस पहल का स्वागत होना चाहिए और बाक़ी सारे काम छोड़ प्राथमिकता के आधार पर इस पर बहस होनी चाहिए। हरेप्रकाश ने एक बार फिर हमारी उसी दुखती रग पर उँगली रख दी है कि 'तय करो, किधर हो तुम!' और यह कि 'पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?'

(लेखक स्त्री अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा में प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हैं)

ISSN 2454-7131

राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के विकास में अनुवाद की भूमिका

प्रो० देवराज

राष्ट्रभाषा की संकल्पना के मूल में जहाँ सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और भावात्मक ऐक्य से जुड़े विविध सन्दर्भ होते हैं, वहीं जिस भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया जाता है, उससे यह आशा होती है कि उसके साथ अन्य क्षेत्रीय या प्रान्तीय या अधिक व्यापक अर्थ में कहें, तो अन्य राष्ट्रीय-भाषाओं का समुचित विकास होगा। यह राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय भाषाओं के विकास की अन्योन्याश्रितता एक ऐसा पहलू है, जो न केवल राष्ट्रभाषा की सार्वजनीन स्थिति को प्रभावित करता है, बल्कि वह संपूर्ण राष्ट्र के सांस्कृतिक-परिदृश्य को भी प्रभावित करता है। राष्ट्रभाषा के विकास का अर्थ तभी हमारे काम का है, जबकि वह राष्ट्र की समग्र चेतना की वाहक बने, संस्कृति के विविध पक्षों को एक साथ, मिश्रित और स्वतन्त्र रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता ग्रहण करे, साहित्य के सर्व दिगन्त व्यापी प्रतिबिंब का निर्माण करे, सबके लिए समान विचार-मंच उपलब्ध कराए और समस्त भाषाओं को विकास का वातावरण देकर राष्ट्र की जड़ों को मजबूत बनाए। इस भूमिका के अभाव में कोई भाषा, सच्चे अर्थो में राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती। यदि संविधान और कानून के बल पर उसे, बलपूर्वक उस पद पर आरूढ़ किया जागा, तो कुछ ही समय बाद जनता विद्रोह कर देगी और उस भाषा की गरिमा मिट्टी में मिल जाएगी।

यह तथ्य राष्ट्रभाषा और राष्ट्र की अन्य भाषाओं के सम्बन्ध की अनिवार्य प्रगाढ़ता को दर्शाता है। विविध क्षेत्रों की सम्पूर्ण गंध, वहाँ की उन भाषाओं में होती है, जिन्हें उन क्षेत्रों के निवासी मातृभाषाओं के रूप में व्यवहार में लाते हैं। हजारो वर्षो के, ऐतिहासिक, राजनैतिक, साहित्यिक और सभ्यतागत विकास की प्रामाणित और विपुल जानकारी उन्हीं भाषाओं में सुरक्षित रहती है। इससे भी आधिक, उस विशेष समाज के जनान्दोलनों, संघर्षों व समस्त अभियानों का विस्तृत लेखा-जोखा भी उन्ही भाषाओं में सुरक्षित रहता है। उन भाषाओं की, प्राचीन अप्रकाशित पाण्डुलिपियाँ प्रकाशित प्राचीन ग्रन्थ, आधुनिक ग्रन्थ, प्राचीन राजाओं के नियंत्रण में तैयार किए गए अभिलेख, शिला-लेख तथा समाचार व विचार पत्रों की सामग्री में अलग-अलग समाजों का जीवन विद्यमान होता है। यदि किसी भी समाज की निकट जानकारी प्राप्त करनी है, तो इन सब माध्यमों का प्रयोग करना पड़ेगा; अत: राष्ट्रभाषा के लिए सबसे अनिवार्य कार्य तो यही है कि यह सारी सामग्री उसके माध्यम से उपलब्धहो। इसी से जुड़ी दूसरी भूमिका यह है कि राष्ट्रभाषा में जो सामग्री है, वह-विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध कराई जाए। विभिन्न राष्ट्रीय-भाषाओं में श्रेष्ठ सामग्री का पारस्परिक आदान-प्रदान हो। इसी के साथ यह भी

ISSN 2454-7131

अत्यंत आवश्यक है कि विभिन्न भाषाओं के जो लोग राष्ट्रभाषा को मौलिक सृजन का माध्यम बना रहे हैं, उनकी रचनाओं को उचित सम्मान और स्थान मिले।

सहज रूप से राष्ट्रभाषा की भूमिका को दो रूपों में सामने रखा जा सकता है – अनुवाद सम्बन्धी भूमिका और मौलिक सृजन सम्बन्धी भूमिका। इनमें मौतिक-सृजन सम्बन्धी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण, किन्तु कम जटिल है। इसमें इतना ही करना है कि विविध भाषा-भाषी लेखक राष्ट्रभाषा में जो रचना-कर्म करते हैं, उसके उचित मूल्यांकन की आवश्यकता को समझा जाए, उन लोगों के साहित्य को दूसरी श्रेणी के साहित्य के रूप मे न देखा जाए तथा राष्ट्रभाषा के साहित्य के इतिहास में उसे समान स्थान प्रदान किया जाए। जहाँ तक अनुवाद सम्बन्धी भूमिका का प्रश्न है, वह बहुत महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ बहुत जटिल भी है। इसका कारण यह है कि अनुवाद कार्य के दो अलग पक्ष हैं। एक, राष्ट्रभाषा और अन्य भाषाओं के बीच पारस्परिक अनुवाद का पक्ष और दूसरा राष्ट्रभाषा के माध्यम से अन्य भाषाओं के बीच पारस्परिक अनुवाद का पक्ष ! जहाँ यह अनिवार्य है कि अन्य भाषाओं की सामग्री राष्ट्रभाषा में आए और अन्य भाषाएँ उसकी सामग्री का लाभ उठाएँ, वहीं यह भी अनिवार्य है कि अन्य भाषाएँ अपनी-अपनी सामग्री का पारस्परिक आदान-प्रदान करें। इसके लिए राष्ट्रभाषा के माध्यम को अपनाना पड़ेगा, क्योंकि प्रत्येक भाषा में, प्रत्येक भाषा का श्रेष्ठ और अनुवाद योग्य ज्ञान अर्जित करने वाले व्यक्ति खोजना या ऐसी आशा करना अत्यन्त कठिन ही नहीं अव्यावहारिक भी है। भाषाई-समाजों की भौगोलिक दूरी, भाषा-शिक्षण की रोजगारोन्मुखी आवश्यकता, दैनिक-कठिनाइयाँ, रूचि, समय का अभाव, आर्थिक लाभ की संभावना आदि कितनी ही बातें हैं, जो मनुष्य के भाषा सीखने तथा अनुवाद-कार्य में उसके ज्ञान के प्रयोग को प्रभावित करती हैं। सामान्य रूप से व्यक्ति दो-दीन भाषाओं का अनुवाद योग्य ज्ञान अर्जित कर सकता है। उनमें से भी वह एक या दो भाषाओं के अनुवाद-कार्य में प्रामाणिक कुशलता प्राप्त कर पाता है। ऐसे में राष्ट्रभाषा उसकी सहायता करती है। अनुवादक को राष्ट्रभाषा में अनेक भाषाओं की सामग्री उपलब्ध हो जाती है और वह जिसका भी अनुवाद अपनी भाषा में करना चाहता है, कर सकता है। इसके लिए उसे दूसरी भाषाओं के सामान्य ज्ञान की ही आवश्यकता पड़ती है—ताकि वह अपने अनुवाद को अधिक सजीव बना सके। मूल सामग्री उसे राष्ट्रभाषा में मिल जाती है।

राष्ट्रभाषा की यह भूमिका, विभिन्न भाषाओं के बीच संपर्क-सेतु की है। इसका लाभ देश की सभी भाषाओं को होता है। जब विभिन्न भाषाओं की सामग्री अनुवाद के माध्यम से राष्ट्राभाषा में पहुँचती है, तो उससे राष्ट्राभाषा का वह ऊर्जस्वी व्यक्तित्व निर्मित होता है, जिसमें सारे देश के गौरव को प्रकाश देने की क्षमता होती है और जिसमें प्रत्येक देशवासी अपनी पहचान देखकर आनंदित होता है। उसी प्रकार, कोई भी अन्य राष्ट्रीय भाषा जब राष्ट्रभाषा के सम्पर्क में आती है, तो इसका प्रभाव यह होता है, कि वह न केवल अपने देश की समस्त भाषाओंके, बल्कि विदेशी भाषाओं के संपर्क में भी अनायास आ जाती है। वह अपने को उस विशाल उद्यान में पाती है, जिसके सभी पुष्प उसकी पहचान की सीमा में हैं और वह, न केवल अलग अलग पुष्पों की गन्ध ही सूंघ सकती है, बल्कि उद्यान के समस्त पुप्पों की सुगन्ध को एक साथ ही अपनी नासिका और हृदय में भी बसा सकती है। उस उद्यान के सौन्दर्य से वह निश्चित रूप से ही अपना श्रृंगार और अधिक निखारने का अवसर पाती है,

क्योंकि उसे सजने-सँवरने की नई-नई शैलियों का ज्ञान होता है। इसी के साथ वह, उद्यान में प्रवेश करनेवाली गर्म-ठण्डी वायु, शीत-ग्रीष्म-वर्षा,सूखा आदि की प्रकृति और प्रभाव को अधिक व्यापक अर्थ में ग्रहण करने लगती है तथा इनका सामना करने की क्षमता प्राप्त करन की प्रेरणा भी प्राप्त करती है। संक्षेप में कहें, तो राष्ट्रभाषा के निकट सम्पर्क में आकर, उस भाषा का व्यक्तित्व नए साँचे में ढल जाता है और वह अखिल राष्ट्रीय स्तर पर पहुँचने के उपरान्त विश्वभाषा-उद्यान की ओर बढ़ने के विषय में गंभीरता से सोचने लगती है।

परीक्षा करने की बात यह है कि भारत की राष्ट्रभाषा और अन्य राष्ट्रीय भाषाओं के बीच यह संपर्क किस रूप में विकसित हुआ है ? अधिसंख्य भारतवासियों के लिए राष्ट्रभाषा के पद पर हिंदी भाषा प्रतिष्ठित है। यह, न तो उत्तर भारत के हिंदी भाषी लोगों के लिए, भारत के किसी दूसरे क्षेत्र के राष्ट्र-प्रेमियों से अधिक गर्व का विषय है और न हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने में उत्तर भारतीयों की कोई बहुत उल्लेखनीय भूमिका है। हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने में जो कारण मुख्य हैं, वे हैं—पूरी, नवद्वीप, काशी, प्रयाग, मथुरा और बद्रीनाथ आदि का उत्तर भारत में होना, जिनके कारण दूरस्थ क्षेत्रों के लोग धार्मिक तथा शैक्षणिक कारणों से इन स्थानों की यात्रा करते रहे और अपने घर लौटते हुए हिंदी की विविध उप-भाषाओं (जिन्हें प्राय: बोलियाँ कहा जाता रहा है) को कुछ न कुछ आपने साथ ले जाते रहे। भारत पर होने वाले विदेशी आक्रमण, जिनके कारण वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, गुजरात आदि के लोग प्रभावित होकर संपूर्ण भारतवर्ष में फैल गए तथा इस क्रम में भाषा, संस्कृति और सामाजिक परंपराएँ अपने साथ ले गए। भक्ति आंदोलन, जो पहले उत्तर में विकसित होकर संपूर्ण देश में फैला और मध्य काल में दक्षिण से चलकर उत्तर में आया। सेना और व्यापारी, जिन्होंने उर्दू, हिन्दुस्तानी आदि भाषाओं के विकास की भूमिका बनाई। स्वतन्त्रता-संग्राम में हिन्दी की ऐतिहासिक भूमिका, जिसके अन्तर्गत इस भाषा ने, अपने विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया में प्राप्त, राष्ट्र के विविध क्षेत्रों की चेतना को संपूर्ण राष्ट्र की दासता-मुक्ति-कामना के एकनिष्ठ स्वर के रूप में प्रस्तुत किया और यह सबकी प्रतिनिथि वाणी बनी तथा महात्मा गांधी,चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, महर्षि दयानन्द सरस्वती, हून्दराज "दुखायल", संत तुकइयादास, संत ज्ञानेश्वर, लोकप्रिय गोपीनाथ बरदोलई, सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और राजर्षि पुरूषोत्तमदास टण्डन, जो सभी हिंदीतर भाषी होते हुए भी यह अनुभव करते थे कि हिंदी अनेक सुयोगों के परिणामस्वरूप संपूर्ण राष्ट्र की भाषा बन जाने के कारण स्वतंत्र भारत की राष्ट्रभाषा होने योग्य है तथा उसमें अन्य राष्ट्रीय भाषाओं के साथ बिना किसी भेद-भाव के अपना विकास करने की क्षमता है। इन सबका ही सम्मिलित प्रभाव है कि संविधान में भले ही उसे पर्याप्त तर्क-वितर्क के उपरांत केवल "राजभाषा" घोषित किया गया हो, किन्तु भारत की कोटि-कोटि जनता ने उसे सर्व-स्वीकृत राष्ट्रभाषा का गौरव देने में तर्क-वितर्क नहीं किया। उसने,अपने हृदय से उसे सम्मान दिया। अत: हिंदी भाषा सरकारों के लिए राष्ट्रभाषा बने या न बने, वह जनता की राष्ट्रभाषा बन चुकी है तथा उसे जन-वाणी होने का गौरव मिल चुका है।

राष्ट्रभाषा और इससे अधिक व्यापक अर्थ में जन-भाषा के रूप में हिंदी दीर्घ-काल से अन्य भाषाओं के विकास के साथ संवाद बना कर अपना विकास करती आ रही है। जैसे-जैसे समय बीत रहा है, यह विकासाधारित

संबंध नए-नए रूप ग्रहण करके समस्त भारतीय भाषाओं को विकास के अवसर प्रदान कर रहा है। इस धारणा को सिद्ध करने के लिए कुछ भाषाओं के साथ हिंदी के संबंध की जानकारी देना उपयोगी होगा।

सिंधी भाषा अनेक उतार-चढ़ावों और राजनैतिक प्रताड़नाओं का शिकार होने के बावजूद चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी से हिंदी की तत्कालीन बोलियों के सम्पर्क में रही है। उस समय सिंधी को, हिन्दी की भक्ति धारा ने प्रभावित किया। सन्त रोहल, मुराद फकीरत शाहु, गुलाम अली, दरिया खाँ, उस्मान, खैर मुहम्मद शाह, नसीर फकीर और रन्वेल शाह जैसे संत और भक्त कवियों ने सिंधी के साथ हिंदी को भी अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। यह देखकर आश्चर्य होता है, कि अठारहवीं शताब्दी और उसके बाद इन सिंधी-भाषी महापुरूषों ने, मन प्रबोध, अदभुत ग्रन्थ, वेद आदि महत्वपूर्ण काव्य रच कर ईश्वर, जीव जगत, माया, भक्ति और साधना जैसे गंभीर विषयों की व्याख्या की। सिंधी के प्रख्यात संत कवि रोहल की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं -

जो घट ज्ञान प्रकाश करे पुनि,
सो घट नांहि छुपे कछु छानो
जूं सलि के प्रतिबिंब दिसे जल,
त्यों प्रभु सन्तानि मांहि समानो।
संतहि राम प्रकाशित व्यापक,
ताहि न जानत लोक बिगानो
रोहल राम दुहाई कहूँ सत,
ब्रहा रूप का यही सत जानो।

ऐसा नहीं है कि यह परंपरा कोई छोटी है। यह एक लंबी शृंखला है, जिसे आगे चलकर महाराज बसन्त राम, भाई दलपत सूफी, केशव राम, हरिराम, कलाचान्द, कल्याण, टेऊँ राम, ग्वाला राम, भोजराज, और स्वामी धर्मदास, आदि महत्वपूर्ण कवि आगे बढ़ाते हैं तथा जीवत सिंह, नयना राम शर्मा, जयकृष्ण दास और महारारज ठाकुर दास उसे पुष्ट बनाते है। महाराज बसन्त राम ने "कृष्णायन" नामक महाकाव्य रचकर ऐतिहासिक ख्याति अर्जित की। यह ग्रन्थ श्याम स्नेही श्यामाशरण ने मथुरा से प्रकाशित किया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जिन सिंधी भाषी लोगों ने महत्वपूर्ण हिंदी सेवा की, उसमें डॉ० मोती लाल जोतवाणी, डॉ० मुरलीधर जैतली, डॉ० दयाल लागा, चन्दराज दुखायल, कृष्ण चन्द्र जैतली, जीवन राम सेतपाल, भास्कर शर्मा, किशोर वास्वानी, सुन्दरी उत्तम चन्दाणी, गोविन्द माली डॉ० दशराज राज, अशोक कुमार भारती, आनन्द प्रकाश खेमाणी, श्रीमती निर्मला बूटाणी और आचार्य भगवान देव आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

अनुवाद के माध्यम से सिंधी और हिंदी के बीच पर्याप्त आदान-प्रदान हुआ है। कहा जाता है कि जब मुखी पीरूमल सीगराणी ने, देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का सिंधी अनुवाद प्रकाशित करना प्रारंभ किया, तो लोगों में हिंदी सीखने की होड़ लग गयी। इससे उत्साहित होकर उन्होंने चौबीस भागों में 'भूतनाथ'की जीवनी का भी प्रकाशन किया। सन् 1913 में 'सत्यार्थप्रकाश' का सिंधी में अनुवाद किया गया। रामायण, महाभारत और भागवत का अनुवाद भी इसी काल में हुआ। तब से यह क्रम बराबर चलता चला आ रहा है। प्रेमचन्द से लेकर यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क व सुदर्शन आदि अनेक लेखकों की रचनाएँ सिंधी साहित्य का अभिन्न अंग बन चुका है।

जब तेलगु और हिंदी के संबंध की बात आती है, तो अनायास आचार्य वल्लभ का नाम याद आ जाता है, जो वर्तमान आन्ध्र के काकरपाडु नामक ग्राम में जन्मे थे और जिन्होंने हिंदी के भक्ति साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित किया। इसी के साथ, रीतिकालीन हिंदी साहित्य के प्रभावशाली कवि तैलंग ब्राह्मण पदमाकर भट्ट को कौन भूल सकता है ? तेलुगु और हिंदी के संबंध में बात करके समय यह जानकर रोमांच हो आता है कि जब भारतेन्दु हरिश्चंद्र वाराणसी में हिंदी को एक शक्तिशाली भाषा बनाकर उसे आधुनिक युग को संबोधित करने वाली भारत की प्रमुख भाषा बनाने के अभियान में लगे थे, तो उसी काल-खंड में आंध्र में स्वर्गीय नादेंल्ल पुरुषोत्तम, हिंदी में नाटक लिख रहे थे। इतना ही नहीं, इन नाटकों का मंचन भी वहाँ हो रहा था। प्रसिद्ध तेलगु भाषी हिन्दी सेवी प्रो. भीमसेन निर्मल ने पुरषोत्तम कवि के बतीस हिन्दी नाटकों की खोज करके उनका संपादन किया है। आगे चलकर बोलशौर रेड्डी, आरिगपूडि रमेश चौधरी, जी. सुन्दर रेड्डी, कामाक्षी राव, वेमूरि राधाकृष्ण मूर्ति, आंजनेय शर्मा, बी. दयावन्ती, आलूरि बैरागी चौधरी, कर्णवीर राजशेष गिरि राव, बालकृष्ण राव, रामशेपैया, दण्डमूडि महोधर, प्रो. चक्रवर्ती आदि ने मौलिक-सृजन की परंपरा को पल्लवित किया।

अनुवाद के क्षेत्र में यदि प्रो. भीमसेन निर्मल और बालशौरि रेड्डी द्वारा किए गए अनुवाद कार्य का ही उल्लेखकर दिया जाए, तो हिंदी व तेलुगु के संबंध की प्रगाढ़ता का पर्याप्त प्रमाण मिल जाएगा। प्रो. निर्मल को अनुवाद के क्षेत्र में "लीजैण्ड" कहा जाने लगा था। वस्तुत: वेमूरि आंजनेय शर्मा ने हिंदी-तेलुगु अनुवाद के जिस अभियान की शुरूआत की थी, वह समय के साथ उन्नत होता गया। प्रो. भीमसेन निर्मल और रमेश आरिगपूडि के अतिरिक्त कामेश्वर राव,ओरूगटि रामचन्द्रैया, पाण्डुरंग राव, दुर्गानन्द, चावलि रामचन्द्र राव, मुगरी अमरोही, ए.सी. कामाक्षी राव, बी. दयावन्ती, चावलि सूर्यनारायणमूर्ति, बारणासि राममूर्ति "रेणु", गुइम सुब्बाराव, एम. रंगैया, अकिल्ल सीतारामम, अंबडिपूडि हुनमैया, दण्डमूडि महिधर, के. रामानायुडु, डॉ. विजयराघव रेड्डी, गुर्रामकोंडा नीरजा जैसे कितने ही विद्वान हिन्दी सेवियों ने अनुवाद के माध्यम से तेलुगु और हिन्दी की श्रीवृद्धि की है। आज तेलुगु भाषी लोग तुलसी, मीरा, दिनकर, प्रसाद, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, गुरुदत्त, आचार्य, चतुरसेन, राहुल सांकृत्यायन, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय, ऋषभदेव शर्मा जैसे हिंदी लेखकों को तेलुगु के माध्यम से पढ़ सकते हैं , तो हिन्दी-भाषी पाठक मुट्टु कृष्ण, पोतन्ना, जापुवा, विश्वनाथ सत्यनारायण, वेंकटेश्वर राव, नोरि नरसिंह शास्त्री, राजमन्नार, आचार्य आत्रेय, सी. नारायण रेड्डी, एन. गोपी जैसे महान तेलुगु साहित्यकारों की चननाओं का आस्वादन हिंदी के माध्यम से कर सकते हैं। इतना ही नहीं, रंगनाथ रामायण और

वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति द्वारा हिन्दी में प्रस्तुत तेलुगु की बुर्रकथा और यक्षगान जैसी विधाओं के सौन्दर्य तक भी हिंदी-पाठकों की पहुँच हो गई है।

मलयालम और हिंदी का साहित्यिक संबंध भी महाराज स्वाति तिरुनाल रामवर्मा के समय प्रारंभ हो गया था। उन्होंने ब्रजभाषा में भक्ति संबंधी सैंतीस पदों की रचना की थी। आधुनिक काल में हिंदी प्रचार आंदोलन की शुरुआत के बाद प्रो.चन्द्रहासन, कवियुर शिवरामय्यर, एन. चन्द्रशेखरन नायर, पो. नारायण, रविवर्मा, डॉ. गोविन्द शेनाय, आनन्दशंकर माधनव, प. नारायण (देव केरलीय), कुन्नुकुषी कृष्णन कुटिट्, रामन नायर, एन. ई. विश्वनाथ अय्यर, केशवन नायर, कृष्णवारियार जैसे लेखको ने विशाल परिमाण में उत्कृष्ट साहित्य की रचना की है। पी. नारायण 'नरन' ऐसे ऊर्जस्वी कवि और निबंध थे, जिन्हें केरल का "दिनकर" कहा जाए, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसी प्रकार चन्द्रशेखरन नायर के नाटकों और पी. जी. वासुदेव के बाल साहित्य पर सारा हिन्दी जगत् गर्व करता है।

हिंदी-मलयालम अनुवाद कार्य भी उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में शुरू हो गया था। उस समय रामनपिल्ले आशान ने रामचरितमानस का मलयाली अनुवाद किया था। बाद में ई. के. दिवाकरन पोट्टी, रत्नमयी देवी, भारती विद्यार्थी, एन. ई. विश्वनाथ अय्यर, चन्द्रशेखरन नायर, देव केरलीय, प्रो. जी. गोपीनाथन, श्रीधर मेनन, आर. सी. देव, वासुदेव, रविवर्मा, रामन नायर, वासेदेवड़े वेणुगोपाल कृष्णन,जनार्दन पिल्लै, बी. के. मुत्तत, नारायण पिल्लै आदि ने महत्वपूर्ण अनुवाद कार्य किया। इनके प्रयास से हिन्दी के लगभग समस्त महत्वपूर्ण साहित्यकारों की चुनी हुई रचनाएँ मलयालय में आ गईं और मलयालम के महाकवि कुमारन आशान, तकषी एस. के. पोट्टेकाट, के. एम. पणिकर, मु. बशीर, केशव देव, गोपीनाथ नायर, उल्लूर जी. शंकर कुरूप, वैष्णिकुलम जैसे प्रतिष्ठित लेखक हिंदी की गौरवशाली धरोहर बन चुके हैं। इस समय आदान-प्रदान का यह क्रम अबाध रूप से आगे बढ़ रहा है।

कर्नाटक में हिंदी-लेखन की शुरुआत बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में हिरण्मय की कविताओं से हुई थी। उस समय ये कविताएँ, 'हिन्दी प्रचारक' नामक पत्रिका में प्रकाशित होती थीं। आगे चलकर एस० एन० दक्षिण मूर्ति, आर० श्याम सुन्दर, प्रताप सुधारक, और दा० रा० पुराणिक आदि ने मौलिक काव्य-सृजन का प्रयास किया। कन्नढ़ भाषा-भाषी लेखकों ने केवल कविताएँ ही रची हों, ऐसा नहीं है, उन्होंने कहानी, निबंध, समीक्षा, नाटक आदि सभी विधाओं में लिखा है। ना० नागप्पा (जिन्हें उनके हिंदी-प्रेम के कारण, "हिन्दी नागप्पा" कहा जाता है) में० राजेश्वरैया, पी. वेंकटाचलन, शंकर राव कप्पिकेरी, कृष्णमूर्ति, एन० नारायणाचार, जि० जे० हरिजीत, टी० आर० देवगिरिक, कृष्ण स्वामी अय्यंगार, गुरुनाथ जोशी आदि लेखकों ने विविध विधाओं में रचनाएँ की हैं।

अनुवाद के माध्यम से भी कन्नड व हिंदी के बीच आदान प्रदान का क्रम आशाजनक है। रामचरितमानस, कुरुक्षेत्र, आँसू, पंचवटी, चन्द्रकान्ता, गोदान, मृगनयी, त्याग-पत्र कल्याणी, अजातशत्रु, ध्रुवस्वामिनी जैसी लोक प्रिय हिन्दी कृतियाँ कन्नड में अनूदित होकर प्रशंसा प्राप्त कर चुकी हैं। कन्नड की बहुत सी रचनाओं का भी हिंदी-अनुवाद हो चुका है। इनमें, मिट्टी की ओर, संध्याराग, रत्नाकर, नागरिक, महाशिल्पी, कन्नड साहित्य का बृहद इतिहास, पंप रामायण, बसवेश्वर पुराण, अंगुलिमाल आदि का उल्लेख किया जा सकता है। अनुवाद का यह कार्य

ISSN 2454-7131

मे० राजेश्वररैया, एम० एस० कृष्णमूर्ति, प्रताप सुधाकर, बी० के० सुब्बालक्ष्मी, हरदास भट्ट, आर. नागराज, हिरण्मय, दक्षिणामूर्ति, शिव कुमार स्वामी, ना० नागप्पा, प्रधान गुरुदत्त, के. सी० सारंगमठ और इन्दिरा बाई आदि ने किया है।

हिंदी और तमिल के संबंधों का विचार आते ही किसी भी साहित्य प्रेमी को सबसे पहले रांगेय राघव का ध्यान आता है । वे तमिल भाषी थे और उनका मूल नाम टी० एन० बी० आचार्य था। उनके साहित्यिक-महत्व को रेखांकित करने की आवश्यकता नहीं है । इस समय जब तमिल भाषियों को अकारण ही संदेह के घेरे में खड़ा कर दिया जाता है, आ. सुमतीन्द्रन का उल्लेख करना उपयुक्त होगा । जब भी उनका उचित मूल्यांकन किया जाएगा, उन्हें खड़ी बोली के समर्थ कवियों की कोटि में स्थान दिया जाएगा । इनके काव्य संग्रहों,'एक पल की याद में' तथा 'नील गगन की घटी में' की कविताएँ यथार्थ भावबोध से भरी हैं। सुमतीन्द्रन के अलावा पी० जयरामन और तुलसी जयरामन ने भी हिंदी में काव्य-रचना की है। साहित्य के इतिहास की दृष्टि से एम० शेपन का 'तमिल साहित्य-एक झाँकी' शीर्षक ग्रन्थ तमिल साहित्य के सामान्य परिचय के लिए महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

वस्तुत: तमिलनाडु में, एस. एन. गणेशन, रा. वीपिनायन, पण्डित हरिहर शर्मा, एन. बी. राजगोपालन, शंकरराजु नायुडु, पी. जयरामन, एच. दुरैस्वामी, एस. धर्मराजन, रा. शौरी राजन, एस. महालिंगम, ति. शेषाद्रि, एन. सुन्दरम, एम. शेषन, ए. रामय्यर, एम. आर. शास्त्री, आर. वेंकटकृष्णन आदि ने हिंदी और तमिल दोनों की उन्नति के लिए महत्वपूर्ण प्रयास किए हैं । इनके प्रयास से तमिल समाज, साहित्य और संस्कृति संबंधी व्यापक जानकारी हिंदी में उपलब्ध हो सकी है और हिंदी की रचनाएँ तमिल में पहुँच चुकी हैं । रा० वीलिनाथन जैसे वरिष्ठ हिंदी सेवियों ने सैकड़ों हिंदी और तमिल कहानियों का अनुवाद किया है। श्री रंगाचार्य कान्दूर को कैसे भुलाया जा सकता है, जिन्होंने वृन्दावन में रहकर भागवत के हिंदी रूपांतरण के दस खण्डों का संपादन किया था।

पूर्वोत्तर भारत की दो भाषाएँ पर्याप्त महत्वपूर्ण और विकसित अवस्था में है—असमीया और मणिपुरी। इन दोनों का ही हिंदी से निकट संबंध है। असमीया और हिंदी के पारस्परिक संबंध की शुरुआत महापुरुष शंकरदेव के समय से मानी जा सकती है। जब स्वर्गदेव चंद्रकांत सिंह के महामंत्री पूर्णानंद बुढ़ागोहाईं के आदेश से कांतसूर्य विप्र ने राम चरित मानस का असमीया अनुवाद किया, तो यह संबंध और भी प्रगाढ़ हो गया । मध्यकाल में हिंदी ने असमीया में साहित्य-रचना को विभिन्न रूपों में प्रभावित किया । स्मरणीय है कि हिंदी की तरह असमीया में भी मृगावती, मधुमालती, चन्द्रावती, वृषकेतु और चम्पावती जैसी रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनके मूल में सूफी रचनाओं की प्रेरण खोजना कठिन नहीं है ।

आधुनिक काल में रजनीकांत चक्रवर्ती, कमलचंद्र नयन, तरुण आजाद डेका, परेशचंद्र देव शर्मा, लोकनाथ भराली, रामेंद्रनाथ शर्मा, चित्र महंत, सीता देवी, सोनेश्वर दान, बापचन्द्र महंत, नरनाथ भट्टाचार्य, नरेंद्रनाथ पटोवारी, प्रफुल्ल कुमार शर्मा, चक्रेश्वर भट्टाचार्य, सत्येंद्रनाथ शर्मा, निरुपमा, लोकप्रिय गोपीनाथ बरदोलई, कृष्णनाथ देव शर्मा, सुमति तालुकदार, गोपाल अवनी दास आदि अनेक लेखकों व अनुवादकों ने मौलिक-सृजन व हिंदी-असमीया के ग्रंथों का अनुवाद किया है। अधिक संख्या हिंदी से असमीया में अनुवाद किए गए ग्रन्थों की है । जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद, जैनेन्द्र, हजारी प्रसाद द्विवेदी, भववतीचरण वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, उपेन्द्रनाथ अश्क,

धर्मवीर भारती आदि की कृतियों सहित हिंदी के अनेक कहानीकारों की कहानियाँ असमीया में अनूदित की जा चुकी हैं। असमीया से भी वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य, विरिंचि कुमार बरूआ, शंकर देव, रजनीकान्त बरदलै, वाग्मीवर नीलमणि फुकन, राधानाथ, सैयद अब्दुल मलिक, वाणीकांत काकति आदि की रचनाएँ हिंदी में अनूदित होकर आ चुकी हैं। यह आश्चर्यजनक प्रसन्नता का विषय है कि असमीया साहित्य और कला की एक अति विशिष्ट रचना, 'चित्र भागवत' भी हिन्दी में सुलभ है। असम में कुछ ऐसे साहित्यकार भी हैं, जो मूलत: असमीया भाषी नहीं है। वे या तो हिंदी भाषी हैं या उनकी मातृ-भाषा कोई और है। फिर भी ऐसे लोग असमीया सीखकर उसमें साहित्य-सृजन कर रहे हैं तथा अनुवाद के माध्यम से हिंदी और असमीया की सेवा कर रहे। ऐसे साहित्यकारों में छगनलाल जैन, शंकरलाल शर्मा और नवारूण शर्मा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। छगनलाल जैन ने, संघर्ष, इंसान की खोज (नाटक), राह और रोड़े (उपन्यास), हँसते-हँसते जीना (कहानी संग्रह), शंकरलाल शर्मा ने, हुतात्मा जयमती (नाटक) और नवारूण शर्मा ने, श्री शंकर देव (प्रबन्ध काव्य) तथा लाचित बरफुकन (काव्य) की रचना की है। चिरंजीलाल जैन और धरमचद आदि ने भी असमीया में कार्य किया है। कुछ विश्वविद्यालयों ने इस सामग्री पर शोध-कार्य भी प्रारंभ कर दिया है।

राष्ट्रभाषा और अन्य भाषाओं की सहकारी भूमिका के एक प्रयोग-अभियान का उल्लेख किए बिना यह आलेख पूरा नहीं होगा। इस अभियान का क्षेत्र मणिपुर है। यहाँ सन् 1987 और 1990 में दो कविता पुस्तकें छपीं, 'मीतैचतु' और 'फागुन की धूल'। 'मीतैचतु' ऐसी काव्य-पुस्तक है, जिसमें बारह मणिपुरी भाषी हिंदी कवियों की रचनाएँ प्रकाशित हुईं। विशेषता यह है कि इस पुस्तक में मणिुरीभाषी रचनाकारों की हिन्दी कविताओं का उन्हीं की मातृ-भाषा, मणिपुरी में अनुवाद भी साथ ही साथ छापा गया है। इसी प्रकार 'फागुन की धूल' में हिंदी व मणिपुरी कविताएँ दो स्वतंत्र खंडों में छापी गई हैं। हिंदी कविताओं का अनुवाद, मणिपुरी में तथा मणिपुरी कविताओं का अनुवाद, हिंदी में प्रकाशित किया गया है। दोनों पुस्तकों की सारी सामग्री देवनागरी लिपि में है। इसी अभियान के क्रम में वर्ष 1990 में एक पुस्तक 'भारत साहित्यगी वारि मचा' शीर्षक से प्रकाश में आई। इसमें भारत की तेरह भाषाओं की कहानियों को मणिपुरी भाषा में अनूदित करके छापा गया है। यहाँ विशेष उल्लेखनीय यह है कि सारी कहानियों का अनुवाद एक ही अनुवादक ने किया है और ऐसा इसलिए संभव हो सका कि ये कहानियाँ पहले से ही हिंदी में उपलब्ध थीं। अब, यह विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं है कि हिंदी-मणिपुरी अनुवादकों द्वारा चलाए जा रहे इस अभियान से राष्ट्रीय भाषा मणिपुरी और राष्ट्रभाषा हिंदी का कितना और किस प्रकार हित संपन्न होगा तथा ये दोनों भाषाएँ एक-दूसरे के अधिकाधिक निकट आकर कैसे अखिल भारतीय भाषा विकास में योगदान करेंगी।

यह मानना तो भारी भूल होगी कि हमारी राष्ट्रभाषा और हमारे देश की अन्य भाषाओं के बीच पर्याप्त नैकट्य विकसित हो गया है या उनके बीच साहित्यिक आदान-प्रदान के मार्ग में आने वाली समस्याएँ समाप्त हो गई हैं। देखने में विपुल लगने के बाबजूद अभी बहुत अधिक कार्य होना शेष है। प्रत्येक भाषा के प्राचीन साहित्य में ही इतने विषयों की सामग्री भरी पड़ी है कि देखकर आश्चर्य होता है। अर्वाचीन साहित्य तो और भी विविधता भरा है। वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ एक दूसरे के प्रभाव को ग्रहण करना स्वाभाविक और सरल हो गया है। अनेक

विदेशी भाषाओं का सम्पर्क भारतीय भाषाओं से निरन्तर बढ़ रहा है । इसी के साथ अन्य भाषाएँ भी परस्पर प्रभावित हो रही हैं। परिणामस्वरूप आधुनिक व समकालीन साहित्य में विषयों की विविधता के साथ ही शैली-शिल्प की विविधताएँ भी बढ़ रही हैं। उसी अनुपात में साहित्य सृजन की गति भी बढ़ रही है। राष्ट्रभाषा के जिम्मे इस संपूर्ण रचना कार्य के श्रेष्ठ अंश को संभालना, सुरक्षित रखना और सबके लिए सुलभ बनाना है । यह कोई सरल कार्य नही है । योग्य और सेवा-भावी अनुवादकों की आवश्यकता है, जो समस्त भाषाओं का साहित्य राष्ट्रभाषा में प्रस्तुत कर सकें । यहीं यह भी समझ लेना चाहिए कि हमारी राष्ट्रभाषा में भी बड़ी तीव्र गति से अनेक विषयों से संबंधित रचना-कर्म सामने आ रहा है और उसमें व्यापक जीवन-फलक की गंध तथा सामाजिक यथार्थ विद्यमान है। इस सारे रचना-कर्म के श्रेष्ठ अंश को अन्य सभी भाषाओं में पहुंचाना अनिवार्य है। स्वाभाविक रूप से यह मार्ग कठिनाइयों से भरा है । सामग्री के चयन से लेकर अनुवादकों के प्रशिक्षण, प्रकाशन की आर्थिक व्यवस्था और वितरण तक, प्रत्येक पग कठिनाई से भरा है । ऊपर से राजनेताओं द्वारा राष्ट्रभाषा बनाम हिंदी बनाम समस्त भारतीय भाषाओं के साथ आए दिन की जाने वाली खिलवाड़ नई–नई कठिनाइयाँ उत्पन्न कर रही है ।

तो, क्या निराश हो जाएँ ? नहीं, राष्ट्रभाषा और अन्य भारतीय भाषाओं के सच्चे सेवक जिस दुर्धर्ष संकल्प के साथ यहाँ तक बढ़ कर आए हैं, उसी भावना के साथ आगे बढ़ते रहें –सफलता उन्हीं की प्रतीक्षा कर रही.....................

(लेखक अनुवाद एवं निर्वचन विद्यापीठ, महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा में प्रोफ़ेसर एवं संकायाध्यक्ष हैं।)

ISSN 2454-7131

लीक से हटकर मंथन:

‘अनुवाद की राजनीति’

डॉ० हरीश कुमार सेठी

पिछली शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्षों के दौरान विकसित एक स्वतंत्र विषय-क्षेत्र (डिसिप्लिन) के रूप में ‘अनुवाद अध्ययन’ ने अनुवाद संबंधी विवेचन को नए-नए आयाम दिए हैं। अनुवाद को आज के समय की प्रचलित बाज़ारवाद और भूमंडलीकरण जैसी अवधारणाओं या फिर स्त्री विमर्श एवं सबाल्टर्न अध्ययन आदि जैसे विमर्शों से जोड़कर मूल्यांकित-विवेचित किया जा रहा है। इसके अलावा, इतिहास के पन्ने पलटते हुए अनूदित साहित्य के मूल में निहित आधार भी खोजे जा रहे हैं, उन्हें नए अर्थ-संदर्भ दिए जा रहे हैं और उनके अनुसार उनकी आधुनिक संदर्भों में व्याख्या की जा रही है। अनुवाद अध्ययन में शामिल इसी प्रकार का अपेक्षाकृत एक नया संदर्भ विषय है – ‘अनुवाद की राजनीति’ यानी ‘पॉलिटिक्स आफ ट्रांसलेशन’। गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक ने अपने लेख ‘दि पॉलिटिक्स ऑफ ट्रांसलेशन’ (तुतुन मुखर्जी द्वारा संपादित ‘ ट्रांसलेशन: फ्रॉम पेरिफरी टू सेंटर स्टेज’ (पृ.95-118) में शामिल) में इसकी चर्चा की है।

अनुवाद की राजनीति पर विचार करते हुए क्रिस्टीना शैफनर ने अपने ‘पॉलिटिक्स ऑफ ट्रांसलेशन’ लेख (ओरिएंट ब्लेकस्वैन द्वारा प्रकाशित ’ए कम्पेनियन टू ट्रांसलेशन स्टडीज़’ (2011) में शामिल) में लिखा है कि ‘The politics of translation also concerns translation directions i.e. the choice of source and target languages. The fact that English has become the dominant language in translation is primarily a political act.’ (पृ.139) अर्थात अनुवाद की राजनीति में स्रोत भाषा और लक्ष्य भाषा का चुनाव जैसी अनुवाद की दिशाएँ शामिल होती हैं। इसके लिए भारत के संदर्भ में अंग्रेजी भाषा का उदाहरण दिया जा सकता है। तथ्य यह है कि आज भारत में अंग्रेजी, अनुवाद की जो प्रमुख भाषा बन गई है, उसके मूल में राजनीतिक निहितार्थ निहित हैं। इसलिए शेफनर के इस छोटे से वक्तव्य से यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि अनुवाद के राजनीतिक पक्ष को जानना-समझना कितना जरूरी है तथा उससे अनुवाद अध्ययन को कितने नए आयाम मिलते हैं। यही कारण है कि अब अनुवाद अध्ययन में अनुवाद की राजनीति को भी पर्याप्त महत्व दिया जा रहा है। आज स्थिति यह हो चुकी है कि इसे अनुवाद अध्ययन विषय-क्षेत्र में न केवल शामिल किया जा रहा है बल्कि शोध कार्य भी हो रहे हैं। इसी प्रकार के अध्ययन का विस्तार हमें अनुवाद की राजनीति पर स्वतंत्र प्रश्न-पत्र तक तैयार करने के रूप में नजर आती है। इन प्रश्न-पत्रों में अनुकूलन के रूप में अनुवाद हो या फिर

अनुवाद की राजनीति को भारत के संदर्भ में हथियाने (एप्रोप्रिएशन) की प्रक्रिया, औपनिवेशिकता, भारतीय नवजागरण और राष्ट्रीय आंदोलन के साथ-साथ उत्तर-उपनिवेशवाद के संदर्भ में देखना शामिल है। अगर हम उत्तर-उपनिवेशवाद के संदर्भ में अनुवाद की राजनीति को ही देखें तो वहाँ प्रवासी साहित्य (डायस्पोरा) और सांस्कृतिक अनुवाद, उपाश्रित साहित्य का अनुवाद, भाषा आंदोलन और अनुवाद; तथा अंग्रेजी भाषा और अनुवाद जैसे उपविषय शामिल किए जाते हैं। इसी तरह से और भी कई पक्ष हैं जिनपर अनुवाद की राजनीति के आलोक में चिंतन किया जा सकता है। अनुवाद की राजनीति के विभिन्न आयामों पर विचार करने से पहले यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि राजनीति क्या है और अनुवाद में इसकी व्याप्ति कहाँ तक है अर्थात अनुवाद के साथ इसका क्या संबंध है।

राजनीति क्या है?:

अपने व्यापक अर्थ-संदर्भ में ’राजनीति’ शब्द संस्कृति, राजनीति और आर्थिकी के साथ-साथ सत्ता और प्रभुत्व जैसे सभी पक्षों से संबंधित है। राजनीति के बारे में अक्सर यह कहा जाता है कि इसका संबंध सत्ता नीति और शासन से है। राजनीति के द्वारा विशेष तौर पर राज्य के मानव-समुदाय के जीवन को शासित किया जाता है, उनपर सत्ता काबिज की जाती है। इस तरह राजनीति का संबंध प्रभुत्व और चयन से है। सत्ता का मूल, संसाधनों पर नियंत्रण से जुड़ा है - भले ही वे संसाधन भौतिक हों, मानव रूपी हों या फिर बौद्धिक। इनमें से अनुवाद का संबंध बौद्धिक संसाधनों से है।

अनुवाद में राजनीति की व्याप्ति

विडंबना यह है कि मानव जीवन की सूक्ष्म भावनाओं-संवेदनाओं से लेकर जीवन की वास्तविकताएँ तक राजनीति या विचारधारात्मक आधार लिए हुए हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि मनुष्य केवल एक सामाजिक प्राणी न होकर राजनीतिक प्राणी भी है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य जैसे राजनीतिक प्राणी का प्रत्येक कार्य-व्यापार/गतिविधि राजनीति-संचालित होती है। इस राजनीति ने विभिन्न युगों में अपनी भूमिका निभाई है। इसका प्रमाण महाभारत के युद्ध के दौरान युधिष्ठिर द्वारा ’अश्वत्थामा हतो, नरो वा कुंजरो’ का प्रयोग है जिसके कारण द्रोणाचार्य एवं कुरुक्षेत्र के युद्ध की परिणति जगजाहिर है। यही ’राजनीति’ आज भी बहुभाषा-भाषी विश्व में कूटनीतिक स्तर पर राजनीतिक व्याख्याओं में भी देखी जा सकता है। यह देश-विदेश के किसी नेता या राष्ट्र-प्रमुख के शब्दों-विचारों को दूसरे भाषा-भाषियों में, उनके स्वयं के हित के अनुकूल तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने में काम आ रही है।

ISSN 2454-7131

अपने हित के अनुरूप राजनीतिक व्याख्या की स्थिति केवल राजनीतिक स्तर पर ही नहीं बनी हुई है। साहित्य लेखन और उसके अनुवाद में भी इस राजनीति को देखा जा सकता है। इनमें से यदि हम स्वयं को अनुवाद तक ही सीमित रखकर चलें तो वहाँ भी इस राजनीति को देखा जा सकता है - जरूरत केवल अनूदित साहित्य के इतिहास के पन्ने पलटने की है। हालाँकि ऐसे में अनुवादक की अक्षमता या असावधानी को भी राजनीति के चश्मे से देखने की गलती हो सकती है, किंतु अनुवाद अध्ययन में अनुवादक के जान-बूझकर या अपनी विचार-दृष्टि के आलोक में किए गए अनुवाद-प्रयासों के आधार वाली राजनीति को समझने की जरूरत है। अनुवाद की दृष्टि-आधारित राजनीति का उदाहरण हमें उमर खय्याम की रुबाइयों के अनुवादक फिट्ज्जेराल्ड द्वारा किए गए अंग्रेजी अनुवाद में मिलता है। फिट्ज्जेराल्ड ने शराब को भोगवाद का प्रतीक समझा और अंग्रेजी अनुवाद में खय्याम को भोगवाद का प्रवर्तक बना डाला। यह फिट्ज्जेराल्ड के युग की भौतिकतावादी संस्कृति और उसके युग-बोध के अनुरूप था, लेकिन इसके लिए खैयाम की रुबाइयों में ईरानी संस्कृति और इतिहास में शराब के महत्व को समझने की भी जरूरत थी। फिट्ज्जेराल्ड की अनुवाद की राजनीति के मूल में यह कारण निहित था कि खय्याम, शराब को ईरानी राष्ट्रवाद से जोड़कर चले थे, जो अंग्रेजी अनुवाद में पूरी तरह से नदारद था। वहीं, हरिवंशराय बच्चन ने जब इस अंग्रेजी अनुवाद से हिंदी में अनुवाद किया तो उनके अनुवाद में उनकी स्वच्छंदतावादी (रोमांटिसिज्म) चेतना का प्रभाव हावी होकर उभरा। इसे भी अनुवाद की राजनीति की ही परिणति कहा जाएगा। अनुवाद की इस चेतना (राजनीति) का प्रभाव बच्चन जी के मौलिक लेखन कर्म तक व्याप्त हुआ, जिसका विस्तार उनकी ’मधुकलश’, ’मधुज्वाल’ और ’मधुकला’ जैसी परवर्ती मौलिक रचनाओं में नजर आता है। स्थिति यह भी रही कि हिंदी में ’छायावाद’, ’प्रगतिवाद’, ’प्रयोगवाद’ जैसे ’वादों’ की भाँति थोड़े समय के लिए बच्चन जी की अगुआई में ’हालावाद’ का प्रवर्तन एवं विकास भी हुआ। बहरहाल, चर्चा के मूल में यह तथ्य शामिल है कि अनुवाद की राजनीति का प्रभाव अनुवाद करने वाले समाज की संस्कृति पर भी नजर आता है। अनुवाद की राजनीति के इस प्रभाव के कारण अनुवाद के इतिहास को अनुवाद करने वाले की संस्कृति का इतिहास कहा जाता है।

‘राजनीति और अनुवाद’ के संबंध का आधार

’अनुवाद की राजनीति’ के तहत, बौद्धिक संसाधनों को प्राप्त करने और उनपर नियंत्रण करने के लिए भाषिक उपकरण के रूप में ’अनुवाद’ का सहारा लिया जाता है। अनुवाद ज्ञान-प्राप्ति का माध्यम है। इससे अपने देश-समाज को विश्व के अधुनातन ज्ञान से जोड़ पाना, उसे अर्जित कर पाना सहज हो जाता है। लेकिन ज्ञान को प्राप्त करने के मूल आधार को जानना-समझना या फिर उसके पीछे की विशेष अभिव्यंजना की निर्मिति अथवा

निहित राजनीति को समझना 'अनुवाद की राजनीति' है। अनुवाद की इस राजनीति को समझने के लिए हम अंग्रेजों की राज (शासन) करने की नीति का उल्लेख कर सकते हैं। प्राकृतिक, आर्थिक और मानव संसाधनों पर अपना राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करने और उसे लंबे समय तक बनाए रखने की जरूरत को पूरा करने के लिए अंग्रेजों ने भारत के बौद्धिक संसाधनों, ग्रंथों और ज्ञान परंपराओं को हथियाया। हथियाने की इस प्रक्रिया में उन्होंने अनुवाद को माध्यम बनाया था। भारतेंदु हरिश्चंद्र का 'हिंदी की उन्नति' पर 1877 में दिया गया व्याख्यान इसी तथ्य का प्रमाण है कि अंग्रेज विभिन्न देशों की कलाओं और ज्ञान को स्वीकार कर अपनी भाषा समृद्ध-संपन्न करते हुए ज्ञान के क्षेत्र पर राज करते हैं। अपने इस व्याख्यान में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि:

> जहाँ जौन को गुन लह्यो लियो जहाँ सो तौन।
>
> ताहीं सों अँगरेज अब सब बिद्या के भौन।।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि 'हथियाने (एप्रोप्रिएशन) की प्रक्रिया' ही अनुवाद की राजनीति का मूल आधार है।

'अनुवाद की राजनीति' के कारण

अनुवाद करते समय अनुवादक स्रोत भाषा के कथ्य को लक्ष्य भाषा में अभिव्यक्त करता है। लक्ष्य भाषा में अंतरण संबंधी यह काम अनुवादक, दोनों (स्रोत और लक्ष्य) भाषाओं पर अपने अधिकार और उन दोनों भाषा-संस्कृतियों के बारे में अपने ज्ञान-विवेक के साथ-साथ विषय-बोध के आधार पर अर्थ एवं संदर्भ को आत्मसात करके करता है। लेकिन यह काम आसान नहीं है। उसे कई प्रकार की समस्याओं-चुनौतियों और सीमाओं आदि का सामना करना पड़ता है। ये चुनौतियाँ-समस्याएँ मूल रूप से भाषा संरचनापरक, अर्थ-संदर्भपरक एवं संस्कृति सापेक्ष होती हैं। अनुवादक इनका सामना करता है और अनुवाद कर्म के मार्ग पर आगे बढ़ता है। लेकिन, इस मार्ग पर कदम रखने से पहले अनुवादक को कई तरह के प्रश्नों के उत्तरों की तलाश करनी होती है। जैसे, किस प्रकार की सामग्री का अनुवाद किया जाए? किस भाषा से और किस भाषा में अनुवाद किया जाए? अनुवाद किसके लिए किया जाए? कितना, कब और कैसे अनुवाद किया जाए? किस माध्यम और किस प्रकार-विशेष में अनुवाद किया जाए? अनुवाद की जाने वाली सामग्री किस प्रकार के विचारों के प्रति प्रतिबद्ध है? उस प्रतिबद्धता के आलोक में और अपने देश-काल के संदर्भ में अनुवाद में किस पक्ष को उभारा जाए और किसे कमजोर करके प्रस्तुत किया जाए? या फिर, किस पक्ष को जोड़ा जाए या किस पक्ष को शामिल ही न किया जाए? किस व्यक्ति या देश-समाज या संस्था के लिए अनुवाद किया जाए? अनुवाद का प्रकाशन कार्य कौन करेगा? अनूदित रचना के

ISSN 2454-7131

मूलभूत विचार के प्रति क्या अनुवाद के प्रायोजक व्यक्ति या संस्था या फिर प्रकाशक की किसी के प्रति कोई प्रतिबद्धता है और अगर है तो किस प्रकार की है? और भी इसी तरह के अनेक प्रश्न अनुवादक के सामने मुँह उठाए खड़े होते हैं।

अनुवादक को इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का जाने-अनजाने सामना करना पड़ता है और उनका हल खोजना पड़ता है। इस प्रकार के प्रश्नों के हल वह अनुवाद कार्य शुरू करने से पहले या करने के दौरान भी खोजता है और स्रोत भाषा के कथ्य को लक्ष्य भाषा में अंतरित करने की दिशा में आगे बढ़ता जाता है। प्रश्नों के उत्तरों के आलोक में एक भाषा से दूसरी में अंतरण करते समय किसी न किसी रूप और किसी न किसी मात्रा में - भले ही थोड़ी-बहुत ही क्यों न हो - चूक हो जाती है या कर दी जाती है। अनुवाद सिद्धांत चिंतन के संदर्भ में इसे भले ही 'अनुवाद में कुछ जोड़ना या छोड़ना' कह दिया जाता है, लेकिन इसका आधार 'अनुवादकीय सृजनात्मक छूट' है। सृजनात्मक छूट के रूप में इस तरह की कमी या चूक के मूल में निहित राज या नीति को समझना ही अनुवाद की राजनीति है। इसलिए अनुवाद का प्रश्न, एक राजनीतिक प्रश्न भी है। तथाकथित राजनीति के चलते अनुवाद (त्रअनूदित पाठ) का गलत इस्तेमाल करना या उसे अनुवादक के नजरिए या विचारधारा की चाशनी में लपेटकर प्रस्तुत करना 'अनुवाद की राजनीति' है।

'अनुवाद की राजनीति' को भली प्रकार से समझने और इस विचार को पुष्ट करने के लिए हमें फिर से इतिहास के पन्न पलटने होंगे। उदाहरण के लिए, अगर हम औपनिवेशिक शासनकाल के दौरान की स्थिति पर विचार करें तो यह नजर आता है कि अंग्रेजों द्वारा अनुवाद के लिए भारतीय ग्रंथों के चयन के मूल में निश्चित 'राजनीति' काम करती थी। अपनी विशेष राजनीति के तहत ही उन्होंने जहाँ विषय की महत्ता और लोक रुचि को ध्यान में रखा, वहीं उनकी अपनी (शासकों की) भाषा-नीति और उनकी अभिरुचि ने अनुवाद में बड़ी भूमिका निभाई। इसके साथ-साथ, उन अनुवादों की राजनीति यह भी बताती है कि ग्रंथों के अनुवाद के लिए चयन में व्यावहारिक एवं उपयोगितापरक पक्ष का भी विशेष तौर पर ध्यान रखा जाता था। जैसे, ब्रिटेन से भारत आने वाले युवा आई.सी.एस. अधिकारियों को भारतीय ज्ञान व्यवस्था, ज्ञान परंपरा और संस्कृति की शिक्षा देने के लिए फ्रेडरिक मैक्समूलर ने 1880 के दशक में 'व्हाट इंडिया कैन टीच अस?' (भारत हमें क्या सीखा सकता है?) जैसे विषय पर अपने व्याख्यान के माध्यम से भूतकालीन भारत को पढ़कर और अनुवाद करके सीखने की बात कही थी।

सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रेरणा भी अनुवाद की राजनीति का अंग बन जाती है। इस प्रकार की प्रेरणा मूल लेखक के विचारों को लक्ष्य भाषा में परिवर्तित रूप में प्रस्तुत करने का आधार का रूप धारण कर लेती है।

इस कारण अनूदित पाठ, मूल से काफी भिन्न हो जाता है। इस बारे में माइकेल मधुसूदन दत्त की बांग्ला रचना का मैथिलीशरण गुप्त द्वारा 'मेघनाद वध' नाम से किए गए हिंदी अनुवाद का जिक्र किया जा सकता है। इस अनूदित रचना ने हिंदी संसार में यह गलत धारणा बनाई कि मधुसूदन दत्त ने राम-लक्ष्मण की तुलना में रावण को अधिक महान बताया है।

अनुवाद की राजनीति में सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रेरणा का विस्तार हमें वैचारिक प्रतिबद्धता के रूप में भी व्याप्त नज़र आता है। मुख्य बात यह है कि यह प्रतिबद्धता विचार-आधारित भी हो सकती है, विचारधारा आधारित भी और विमर्श केंद्रित भी। निश्चित राजनीति के तहत विचार, विचारधारा और विमर्श की सलिला को गति प्राप्त होती है यानी चिंतन-अनुचिंतन को विशिष्ट राजनीति के आलोक में विस्तार प्राप्त होता है। इससे चिंतन को एक नई दिशा में ले जाना संभव हो पाता है। इसी राजनीति से अनुप्राणित होकर विचारों और विमर्शों आदि का बाजार गरम हो पाता है। स्वाभाविक है कि इस स्थिति के प्रसार-विस्तार में अनुवाद अपनी विशिष्ट भूमिका निभाता है।

अनुवाद की राजनीति का एक आयाम धर्म-प्रचार की राजनीति से भी जुड़ा हुआ है। इस संदर्भ में उपनिवेशकाल में ईसाई मिशनरियों के प्रयासों का विशेष तौर पर उल्लेख किया जा सकता है। यूरोपीय व्यापारियों के साथ आए ईसाई मिशनरियों में से 16वीं-17वीं शताब्दी में रोमन कैथोलिक मिशनरियों ने और 18वीं शताब्दी में डेनमार्क एवं जर्मनी से आए प्रोटेस्टेंट मिशनरियों ने ईसाई धर्म के प्रचार के लिए काम किया। वहीं, ब्रिटिश शासनकाल के दौरान भारत में इसने गति प्राप्त की। अपने धार्मिक प्रचार के लिए स्थानीय भाषा का इस्तेमाल एवं प्रिंटिंग प्रेस शुरू करके उन्होंने अनुवाद संबंधी गतिविधियों को विस्तार प्रदान किया था। इस दौरान, लगभग सभी भारतीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया गया। साथ ही, अपनी विशिष्ट नीति के तहत, उपनिवेशकाल में हिंदू और इस्लाम धर्म ग्रंथों के भी अनुवाद किए जिससे कि उनके अनुयायी इन धर्मों की बुराइयों को जान सकें। वास्तव में ये लोग इस तथ्य से भली-भाँति अवगत थे कि भारत जैसे व्यापक और विस्तृत भूभाग वाले बहुभाषिक देश में अंग्रेजी से काम नहीं चल सकता। इसलिए यहाँ की स्थानीय भाषाओं में ही धर्म-प्रचार संभव एवं सार्थक है। साथ ही वे यह भी समझ गए थे कि इन भाषाओं में से हिंदी ही वह प्रमुख भाषा है जिसके जरिए यहाँ के बहुत बड़े जन-समुदाय से उनकी भाषा में संपर्क संभव हो सकता है। इसीलिए उन्होंने बाइबिल और अन्य धार्मिक साहित्य का प्रमुख रूप से हिंदी और इसके अलावा अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद करवाया। इस तरह हम कह सकते हैं कि उपनिवेशकाल में धार्मिक प्रचार-प्रसार में अनुवाद की राजनीति ही शक्तिशाली माध्यम बनकर उभरी थी।

धार्मिक प्रचार-प्रसार को विस्तार देने के संदर्भ में शिक्षा की जो भूमिका रही है उसमें भी अनुवाद की राजनीति को खोजा जा सकता है। इसीलिए अनुवाद की राजनीति के बोधन में शिक्षा का संदर्भ भी निहित है। भारत में ईसाई मिशनरियों के लिए यही संदर्भ विशेष तौर पर महत्वपूर्ण साबित हुआ। धर्म प्रचार संबंधी कार्य को व्यावहारिक रूप देने के लिए अंग्रेजों ने आधुनिक शैक्षिक तंत्र विकसित करना जरूरी महसूस करते हुए तथा मिशनरी स्कूलों के लिए पाठ्य-सामग्री तैयार कराने के लिए स्कूल बुक सोसाइटियाँ स्थापित कीं। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए हिंदी में बड़ी मात्रा में पाठ्य-सामग्री तैयार की गई। उनके इस प्रयास से हिंदी भाषा के विकास को गति प्राप्त हुई। लेकिन, साथ ही, यह भी उल्लेखनीय है कि इस मिशन को गति प्रदान करने के लिए अनुवाद को सशक्त हथियार के रूप में स्थान दिया गया।

‘अनुवाद की राजनीति’ के प्रभाव

अनुवाद का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है राजनीति के चलते अनुवादक प्रश्रय, संरक्षण, प्रसिद्धि, उत्पीड़न और मृत्युदंड तक पाते रहे हैं। अनुवाद की यही राजनीति ही अपने काव्य-गुरु एज़रा पाउंड की तुलना में उनके शिष्य टी.एस.एलियट को भारत में जल्दी प्रसिद्धि दिलाने का आधार बनती है। अनुवाद की राजनीति ही बताती है कि ’विश्व-व्यापी ब्रिटिश उपनिवेशवाद’ अंग्रेजी साहित्य के व्यापक अनुवाद का न केवल कारण रहा, बल्कि इसे विश्व में केंद्रीय स्थिति तक ले आया। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अगर अनुवाद की यह राजनीति काम नहीं कर रही होती तो संभवतः शेक्सपियर की रचनाओं का इतना अधिक अनुवाद न होता और वे ’विश्व के महानतम साहित्यकार’ न बन पाते।

‘अनुवाद की राजनीति’ की भारत के भक्तिकालीन साहित्य के संदर्भ में भी बात की जा सकती है। यहाँ के आलोचकों-अनुवादकों ने मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में भक्ति साहित्य की केवल उन्हीं रचनाओं/रचनांशों का चयन या अनुवाद किया जिनपर द्वंद्वात्मक पद्धति को लागू किया जा सकता था। उदाहरण के लिए, डेविड लारेंजन ने इटली के मार्क्सवादी विचारक एंटोनियो ग्राम्शी के सांस्कृतिक वर्चस्व संबंधी विचार को भक्ति साहित्य पर लागू करते हुए यह बताया कि सगुण भक्ति वर्चस्ववादी-ब्राह्मणवादी है, जबकि निर्गुण भक्ति तर्कसंगत, संघर्षकारी और हाशिए पर रह रही छोटी जातियों के विमर्श से संबद्ध है।

अनुवाद की राजनीति के आलोक में प्रवासी साहित्य (डायस्पोरा) में हो रहे सांस्कृतिक अनुवाद की प्रक्रियाओं तथा गतिविधियों की प्रकृति को समझा-जाना जा सकता है। यह अध्ययन-समझ बताती है कि प्रवास की प्रक्रिया के कारण जब दो भाषा-संस्कृतियों के लोग और समुदाय एक-दूसरे से साक्षात करते हैं तो उनमें हर

प्रकार के संवाद या संपर्क स्थापित करने में अनुवाद की अपनी विशेष भूमिका होती है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रवासन से दो भाषा-संस्कृतियों का परस्पर मिलन होता है जिसके अनेक आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्ष होते हैं। दो भाषा-संस्कृतियों के परस्पर मिलन की इस प्रक्रिया में अनुवाद संवाद-सेतु स्थापित करता है। प्रवासी लेखकों में सलमान रश्दी, विक्रम सेठ, अनीता देसाई और रोहिंटन मिस्त्री जैसे प्रवासी भारतीयों ने अपने लेखन के जरिए विकसित देशों की साहित्य-समृद्धि में अपना विशेष योगदान दिया है। हालाँकि वे स्वयं भी विकसित देशों के फिटज़्जेराल्ड, हेमिंग्वे, कामू आदि जैसे अनेक साहित्यकारों-लेखकों से प्रेरित हुए, वहीं विदेशी साहित्यकारों-लेखकों ने आप्रवासियों के अनुभवों पर केंद्रित लेखन कार्य करके प्रवासी साहित्यों के अनुभवों को अभिव्यक्ति प्रदान की। इस आदान-प्रदान में भी अनुवाद की राजनीति काम करती नजर आती है।

उपाश्रित साहित्य के अध्ययन (सबाल्टर्न स्टडीज़) जैसे उत्तर-आधुनिक अध्ययन विमर्शों के विस्तार में भी अनुवाद की राजनीति को परिलक्षित किया जा सकता है। उपाश्रित अध्ययन, 1970 के दशक के अंत तक आते-आते ब्रिटेन और अन्य स्थानों में बसे ज्ञानेंद्र पांडे, सुमित सरकार, दीपेश चक्रवर्ती, पार्थ चटर्जी, डेविड हार्डिमैन, डेविड आॅर्नल्ड, शाहिद अमीन जैसे युवा इतिहासकारों एवं अन्य अनुशासनों के समूह द्वारा दक्षिण एशिया और उसके समाज एवं इतिहास-लेखन पर विचार-विमर्श की परिणति रहा है। इस अध्ययन शृंखला का नेतृत्व ’सबआल्टर्न स्टडीज’ के संस्थापक-संपादक रणजीत गुहा ने किया। इस तरह के प्रयास ने अध्ययन जगत में एक नए क्षेत्र का पर्दापण तो कराया ही, साथ ही ‘तीसरी दुनिया’ के लोगों और उनके अस्तित्व-अनुक्रम को परिभाषित करने वाली सामाजिक-सांस्कृतिक राजनीति का बोध भी विकसित किया। उपाश्रित अध्ययन का केंद्र, समाज में विद्यमान प्रभुत्व के रूप और व्यवहार का उद्घाटन है। मुख्य बात यह है कि उपाश्रितों संबंधी अध्ययन विषय में अनुवाद और अनुवादक सक्रिय भूमिका निभाते हैं। इसी के साथ-साथ यह भी उल्लेखनीय है कि अनुवाद के लिए लेखक और पाठ का चयन हो या फिर मूल पाठ से संबंधित भाषा-समाज में प्रचलित रीति-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन, धार्मिक प्रथाओं-लोकोक्तियों आदि जैसे सामाजिक-सांस्कृतिक तत्वों का अनुवाद हो, वास्तविकता यह है कि इन पक्षों ने उपाश्रित अनुवादों को प्रभावित किया है।

इसके अलावा, ध्यान देने योग्य यह भी रहा है कि जाति, वर्ग, लिंग आदि जैसे अस्मिता विषयक मुद्दे और अनुवाद की अस्मिता ने भी प्रभावित किया है। अनुवादक द्वारा चयनित पाठ और अनुवाद करते समय उसकी दखलंदाजी के मूल में समाज-प्रचलित प्रभुत्व के उद्घाटन और विरोध को राजनीति के एक भाग के रूप में परिलक्षित किया जा सकता है, जोकि तात्विक दृष्टि से ’अनुवाद की राजनीति’ का विषय-क्षेत्र बन जाता है। उदाहरण के लिए, बांग्ला साहित्यकार महाश्वेता देवी के कथा साहित्य के गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक के द्वारा किए

ISSN 2454-7131

गए अनुवाद और अनुवाद विषयक आलोचनाओं आदि ने उपाश्रितों के स्वर को नया विस्तार-आयाम प्रदान किया है; नए परिदृश्य स्थापित किए हैं। अनुवाद की इस नीति के तहत अनुवादक, 'अनुवाद' के स्थान पर 'पुनःसृजन' को केंद्र में रखता है और इच्छानुसार परिवर्तन की सृजनात्मक स्वातंत्र्य का आधार लेकर चलता है। स्वाभाविक है कि अनुवाद की राजनीति को समझते हुए इस प्रकार से अनुवाद विमर्श में उपाश्रितों की अनुवाद संबंधी चुनौतियों के बोध और निर्धारण में सहज रूप से योगदान मिलता है।

वास्तव में, भूमंडलीकरण-उदारीकरण के आज के दौर में बाजारवाद चारों ओर हावी है। स्थिति यह हो चुकी है कि अनुवाद भी बाजारोन्मुखी हो गया है। बाजार को ध्यान में रखते हुए अनुवाद कार्य एक राजनीति के तहत भी हो रहे हैं ताकि विमर्शों के रूप में विचारधाराएँ पनपें। इसका मूल कारण यह है कि अनुवाद की राजनीति, विचारधाराओं से भी प्रभावित होती है। शीत युद्ध के दौर में विशेष वैचारिक कट्टरता कायम रही और एक विचारधारा के समर्थक-पोषक देश के साहित्यकार द्वारा अपनी व्यवस्था पर चोट करना दूसरी विचारधारा के समर्थक देशों में प्रसिद्धि का आधार बन जाता था। इसका नतीजा यह होता था कि उस साहित्यकार विशेष की रचनाओं के दूसरी विचारधारा के समर्थक देशों की भाषाओं में खूब अनुवाद होते, अनूदित संस्करण खूब बिकते और साहित्यकार पुरस्कृत-सम्मानित तक होते। वहीं, दूसरी ओर, वह साहित्यकार-लेखक अपने ही देश में, अपनी रचना की कलाहीनता का दंश तक सहन करता है और उसके विरुद्ध फतवा तक जारी होता रहा है। अनुवाद करते समय विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता की यह प्रवृत्ति कमोबेश आज भी बनी हुई है।

अंत में यही कहा जा सकता है कि विभिन्न युगों से अपनी एक विशेष भूमिका निभाने वाली अनुवाद की राजनीति को गहराई से समझने और समझाने की जरूरत है। अनुवाद की राजनीति, अनुवाद चिंतन की परंपरागत चिंतन लीक से हटकर मंथन की अपेक्षा रखती है। अनुवाद कार्य-व्यापार, राजनीति-मुक्त क्षेत्र नहीं है। वैचारिक धरातल पर अनुवाद की चुनौती भिन्न प्रकार की है, जिसे केवल भाषापरक, शैलीपरक या संस्कृतिपरक चुनौतियों के आईने से नहीं देखा जा सकता। जरूरत इस बात की है कि अनुवाद हों और खूब हों। साथ ही, अनूदित रचनाओं की गंभीर समीक्षा हो तथा उनके 'अनुवाद की राजनीति' जैसे पहलुओं पर चिंतन और विश्लेषण हो। वैसे, आदर्श स्थिति तो यही है कि अनुवाद के जरिए ज्ञान के प्रसार के मूल आधार अर्थात मानवता को, मानव-मात्र के कल्याण को प्रश्रय देने वाला होना चाहिए। मानवता को ध्यान में रखते हुए, जो भी स्तुत्य और ग्राह्य साहित्य है, उसे अपनी भाषा में लाने के लिए अनुवाद को माध्यम बनाया जाना चाहिए। प्रायोजित अनुवाद अर्थात निहित स्वार्थांधता को महत्व न देना ही श्रेयस्कर है क्योंकि सर्वजन हिताय ही अनुवाद का मूलभूत ध्येय है। अनुवादक को भी चाहिए कि वह अपने विचारों-भावनाओं को जाने-अनजाने अनुवाद में न ढाले; वैचारिक

तटस्थता उसके लिए मानक ही सिद्ध होगा। तब अनुवाद की राजनीति के प्रभामंडल के आलोक से उसकी आँखें चुंधियाएँगी नहीं और वह निर्लिप्त बना रहकर दो भाषाओं, समाजों और देशों के बीच संपर्क सेतु का कार्य करने वाले पावन-पुनीत कर्म को पूरी निष्ठा से एवं सार्थक ढंग से निष्पादित कर पाएगा।

(लेखक अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में सहायक प्रोफ़ेसर हैं।)

ISSN 2454-7131

भारतीय सिनेमा और रवीन्द्रनाथ टैगोर

डॉ० एम० वेंकटेश्वर

आधुनिक युग के अनेक वैज्ञानिक आविष्कारों में सिनेमा एक नवीन क्रांतिकारी आविष्कार है, जिसने समूचे मानव समाज की मध्य युगीन सांस्कृतिक चेतना को परिवर्तित कर नई वैज्ञानिक एवं तकनीकी कला संस्कृति को जन्म दिया। मध्ययुगीन नाट्य-कला संस्कृति के स्थान पर सिनेमा के रूप में एक नई कलात्मक संस्कृति प्रकट हुई। मध्यकाल में 'नाट्य विधा ' को ही कला के रसास्वादन का प्रमुख माध्यम माना जाता था। किन्तु उन्नीसवीं सदी में आविष्करित सिनेमा ने कला-संस्कृति के क्षेत्र में भूचाल पैदा कर दिया। यह विधा परदे पर गतिशील छाया-चित्रों के माध्यम से दर्शकों को अचंभित कर प्रभावित करने में सफल हुई। दर्शकों के लिए यह एक विलक्षण और कल्पनातीत अनुभव था। इसी कल्पनातीत रोमांचक अनुभव ने 'सिनेमा' को साकार किया जो प्रकारांतर से मनोरंजन के साथ साथ ज्ञान-विज्ञान के विकास के लिए भी मानव जीवन का अभिन्न अंग बन गया। सिनेमा, कला का आधुनिकतम संप्रेष्य माध्यम है, यह कला का ऐसा सशक्त माध्यम है जो दर्शकों को किसी विशेष विषय-वस्तु पर आधारित कथा को दिखाता है, बताता है और मनोरंजन करते हुए उनके हृदयों में गहरे उतर जाने की क्षमता रखता है। सिनेमा, कहानी कहने का तकनीकी दृश्य-श्रव्य माध्यम है। अन्य कलाओं की तरह सिनेमा भी समाज और व्यक्ति की आशा और आकांक्षाओं को व्यक्त करता है। सिनेमा, साहित्य, चित्रकला, संगीत, नृत्य आदि का सम्मिश्रित रूप है, अर्थात सिनेमा समग्रता का ही दूसरा नाम है। सिनेमा और फिल्म परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं। सिनेमा की प्रयोजनीयता केवल मनोरंजन तक ही सीमित नहीं है अपितु यह सामाजिक चेतना, राष्ट्रीय-अस्मिता, आध्यात्मिक ज्ञान तथा सांस्कृतिक भाव बोध को विकसित करने का एक प्रभावी उपकरण है।

भारतीय सिनेमा का उदय सन् 1913 में दादा साहब फाल्के द्वारा निर्मित मूक फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र ' से स्वीकार किया गया। हालाकि 'राजा हरिश्चंद्र से पूर्व सन् 1912 में मुंबई के रामचंद्र गोपाल टोर्ने ने ' पुंडलीक ' नामक फिल्म का निर्माण किया। यह फिल्म महाराष्ट्र के ख्याति प्राप्त हिंदू संत के जीवन पर आधारित रामाराव कीर्तिकर द्वारा लिखित नाटक पर आधारित थी। इसमें नासिक के नाट्य मंडली के उन कलाकारों ने अभिनय किया जो इस नाटक का मंचन किया करते थे। भारत की यह पहली कथा फिल्म है जिसमें नाटक के कलाकारों ने इस फिल्म के लिए विशेष रूप से अभिनय किया। इसका छायांकन विदेशी छायाकार द्वारा किए जाने के कारण शायद इसे भारत की प्रथम पूर्ण स्वदेशी कथा-फिल्म के रूप में पहचान नहीं मिली। इसलिए यह पहचान, इस फिल्म के निर्माण के लगभग एक वर्ष बाद फाल्के द्वारा निर्मित मूक फिल्म, ' राजा-हरिश्चंद्र ' को प्राप्त हुई। यह फिल्म बंबई के कॉरोनेशन थियेटर में 18 मई 1912 को प्रदर्शित हुई। राजा-हरिश्चंद्र, भारतीय सिनेमा के इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात करने में सफल हुई। तकनीकी कारणों से विवाद चाहे जो भी हो किन्तु 'पुंडलिक ' का नाम

भारतीय सिनेमा के इतिहास में हमेशा दर्ज रहेगा। यदि ‘ पुंडलिक ‘ को प्रथम पूर्ण स्वदेशी भारतीय फिल्म का सम्मान मिला होता, तो निश्चित तौर पर भारत, पूरे विश्व में प्रथम कथा-फिल्म निर्माता के रूप में सिनेमा के इतिहास में अपना स्थान बना लेता। क्योंकि विश्व की प्रथम कथा-फिल्म ‘क्वीन एलिज़ाबेथ’ का निर्माण फ्रांस में हुआ,जिसका प्रदर्शन पुंडलिक के प्रदर्शन के दो महीने बाद 12 जुलाई 1912 को हुआ।

सन् 1931 में भारत में सवाक फिल्मों का आरंभ, अर्देशिर ईरानी द्वारा निर्मित ‘ आलम आरा’ से हो गया। इसके साथ ही भारतीय सिनेमा का स्वरूप तेजी से बदलने लगा। स्वतन्त्रता-पूर्व भारत के विभिन्न प्रदेशों में हिंदी के अतिरिक्त क्षेत्रीय भाषाओं में भी सिनेमा उद्योग का विकास तेजी से हुआ, इस तरह हिंदी एवं क्षेत्रीय भाषाओं में निर्मित फिल्म-समुदाय को ही भारतीय सिनेमा की संज्ञा प्राप्त हुई। वैसे तो भारतीय सिनेमा के केंद्र में मूलत:हिंदी सिनेमा ही सन् 1931 से सशक्त रूप से विद्यमान है किन्तु भारतीय सिनेमा की पहचान क्षेत्रीय भाषाओं में निर्मित फिल्मों से ही बनी है। पचास और साठ के दशक में भारत की विभिन्न भाषाओं में सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक कथा-वस्तुओं पर निर्मित फिल्में, भारतीय सिनेमा के स्वर्ण युग की याद दिलाती हैं। भारतीय सिनेमा का प्रारम्भिक युग फिल्म कंपनियों का युग रहा है। बंबई, कलकत्ता और मद्रास भारतीय सिनेमा उद्योग के प्रधान केंद्र थे। इस दौर में चंदूलाल शाह, जे बी एच वाडिया, अर्देशिर ईरानी, जे एफ मोदी, सोहराब मोदी आदि वे लोग थे जिनकी मेहनत, लगन, सूझबूझ और संपन्न आर्थिक स्थिति ने भारतीय सिनेमा को एक सुस्थिर भूमि प्रदान की। दक्षिण भारत में बी एन रेड्डी, नागारेड्डी- चक्रपाणि, रघुपति वेंकय्या, ए वी मय्यप्पन (ए वी एम), के वी रेड्डी (निर्देशक), एस एस वासन (तमिल) आदि ने मद्रास में वाहिनी, भरणी, जेमिनी, ए वी एम जैसी बड़ी फिल्म कंपनियों (स्टुडियो) को स्थापित किया। भारतीय सिनेमा के निर्माताओं में बंगाल के हिमांशु रॉय, बी एन सरकार, पी सी बरुआ, नितिन बोस, विमल राय, देवकी बोस, महाराष्ट्र के बाबुराव पेंटर, बाबुराव पेंढारकर, वी शांताराम, आदि प्रमुख हैं।

सिनेमा को साहित्य के समकक्ष कला का विकसित रूप मानने वाले फ़िल्मकार भी हैं और साथ ही ऐसे भी फ़िल्मकार हैं, जिनके लिए यह महज धनोपार्जन का जरिया है। साहित्य की तरह सिनेमा भी अपनी प्राण-शक्ति समाज से ही प्राप्त करता है इसलिए सिनेमा पर विचार करते हुए समाज के साथ उसके संबंधों पर विचार करना आवश्यक है। सिनेमा चाहे मनोरंजन, व्यवसाय अथवा कला के उत्कर्ष की अभिव्यक्ति के लिए हो, उसमें अपने दौर का समाज किसी न किसी रूप में व्यक्त होता ही है।

भारतीय सिनेमा ने अपने अस्तित्व के सौ वर्ष पूरे कर लिए हैं (1913 – 2013)। भारतीय सिनेमा का विस्तार मूक युग से सवाक और श्वेत-श्याम प्रारूप से रंगीन प्रारूप को धारण कर आज कंप्यूटर-साधित डिजिटल प्रणाली में परिवर्तित हो चुका है। ध्वनि और प्रकाश के अतिरंजित संयोजन कला के विकास और कंप्यूटर ग्राफिक से लैस सिनेमाटोग्राफी की तकनीक ने फिल्मी पर्दे पर अद्भुत कल्पनाओं को अविश्वसनीय ढंग से चित्रित करने में सफलता हासिल कर ली है। इस कारण यह अनुभव किया जा रहा है कि फिल्म निर्माण के अत्याधुनिक तकनीकी कौशल ने सिनेमा की कथात्मक संवेदना को नष्ट कर दिया और उसके स्थान पर कला के एक कृत्रिम मायालोक को सृजित कर दिया।

ISSN 2454-7131

भारतीय सिनेमा का वर्गीकरण, लोकप्रिय सिनेमा और समांतर सिनेमा, नामक दो वर्गों में किया गया है। समांतर सिनेमा का उदय हिंदी के साथ सभी क्षेत्रीय भाषाओं में विकसित हुआ। समांतर सिनेमा आंदोलन के प्रणेताओं में सत्यजित रे, ऋत्विक घटक, ऋतुपर्णो घोष, मृणाल सेन, श्याम बेनेगल, गोविंद निहलानी हैं। इन फ़िल्मकारों ने अत्यंत कम बजट में सार्थक एवं यथार्थवादी लघुफ़िल्मों का निर्माण कर सिनेमा को सामान्य जन जीवन से जोड़ दिया। ये फिल्में लोकप्रिय सिनेमा की श्रेणी में नहीं आतीं किन्तु सामाजिक सरोकार की दृष्टि से ये यथार्थवादी और उद्देश्यमूलक हैं। सत्यजित रे द्वारा निर्मित- पाथेर पांचाली, अपराजितों, अप्पू, (बांग्ला) शतरंज के खिलाड़ी, (हिंदी), श्याम बेनेगल द्वारा निर्मित मंडी, निशांत, अंकुर, मृगया, भुवन-शोम, मृगया, बाजार, जुनून, मा-भूमि (तेलुगु) आदि ऐसी ही फिल्में हैं जो भारत के ग्रामीण और आंचलिक जीवन को उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत करती हैं। लोकप्रिय सिनेमा का मूल उद्देश्य मनोरंजन और आर्थिक लाभ होता है। किन्तु लोकप्रिय सिनेमा भी सुधारवाद, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय नवजागरण के कथ्य को आम जनता तक पहुंचाने में अपूर्व सफलता प्राप्त की है।

भारतीय सिनेमा का आरंभिक दौर पारसी रंगमंच से प्रभावित था। वस्तुत: हिंदी सिनेमा का प्रारम्भ पारसी थियेटर से ही हुआ। अर्देशिर ईरानी, होमी वाडिया और सोहराब मोदी आदि पारसी समुदाय के सम्पन्न कला पोषकों ने हिंदी सिनेमा की नींव डाली। सोहराब मोदी स्वयं एक महान अभिनेता और कुशल निर्माता-निर्देशक थे जिनका सिनेमा के क्षेत्र में पदार्पण पारसी थियेटर से हुआ था। इन्होंने मिनर्वा मूवीटोन नामक फिल्म संस्था को स्थापित कर 'सिकंदर, पुकार, पृथ्वी-वल्लभ और झांसी की रानी ' जैसी महान ऐतिहासिक फिल्मों का निर्माण किया। वे अभिनेता के रूप में बहुत ही सशक्त और प्रभावशाली थे। इसी परंपरा में पृथ्वीराज कपूर ने पृथ्वी थियेटर नामक नाट्य संस्था की स्थापना की जिसके साथ वे देशाटन कर अपने नाटकों द्वारा राष्ट्रीयता का प्रचार किया करते थे। इन्हीं की प्रेरणा से राजकपूर ने आर के स्टुडियो की स्थापना की। आर० के० स्टुडियो में राजकपूर ने सामाजिक सरोकार की अनेकों यादगार फिल्में बनाईं। 'बरसात, आग, आह, आवारा, श्री 420, बूट पालिश, जिस देश में गंगा बहती है, मेरा नाम जोकर, राम तेरी गंगा मैली' आदि फिल्मों के केंद्र में निम्न मध्य वर्ग की समस्याओं के साथ प्रेम की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति कलात्मक ढंग से मधुर संगीत के साथ प्रस्तुत की गई। भारतीय सिनेमा के स्वर्ण युग में कलात्मक लोकप्रिय फिल्मों के निर्माण में महाराष्ट्र के वी शांताराम का योगदान महत्वपूर्ण है। वी शांताराम एक महान निर्माता, निर्देशक और अभिनेता थे। वे एक दृष्टा और स्रष्टा थे जो अपने समय से काफी आगे थे। उनके फिल्मों में सामाजिक सरोकार के साथ साथ प्रेम और दाम्पत्य, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना कूट कूटकर भरी थी। उनके फिल्म समस्यामूलक और संवेदनाप्रधान हुआ करते थे। रंगों का अद्भुत सम्मिश्रण उनके फिल्मों के सौंदर्य को द्विगुणित कर देते थे। ' झनक-झनक पायल बाजे, नवरंग, गीत गाया पत्थरों ने और स्त्री 'उनके रंगीन फिल्मों के नायाब नमूने हैं। 'दो आंखें बारह हाथ' उनके द्वारा निर्मित एक महत्वपूर्ण प्रयोगात्मक फिल्म है।

भारतीय सिनेमा विश्व का सबसे बड़ा सिनेमा जगत है। विश्व के किसी भी देश में इतनी भाषाओं में इतनी बड़ी संख्या में फिल्में नहीं निर्मित होतीं। इसका कारण, भारत की बहुभाषिकता और संस्कृति-बहुलता है। संसार के

अधिकांश देशों की अपनी केवल एक ही भाषा है जब कि भारत में संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त भाषाओं की संख्या बाईस है। इनमें से अधिकांश बड़ी भाषाओं में फिल्मों का निर्माण होता है। भारतीय सिनेमा भी भारतीय साहित्य की भांति ही बहुभाषी और बहुतआयामी है इसीलिए भारतीय सिनेमा अनेक क्षेत्रीय भाषाओं में निर्मित एक समुच्चय है जिसकी समानता किसी अन्य देश का सिनेमा नहीं कर सकता। भाषिक विविधता के साथ देश की सांस्कृतिक विविधता को भी भारतीय सिनेमा स्वदेश और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रसारित करने में सफल हुआ है।

भारत में लोकप्रिय सिनेमा ने जहां एक ओर भाग्यवाद, सामंती आदर्शवाद, प्रतिशोध पर आधारित बर्बरता, भोगवाद, और विलासिता को प्रोत्साहित किया है वहीं दूसरी तरफ ऐसी फिल्में भी बनती रहीं हैं जिनमें धार्मिक सद्भाव एवं सहिष्णुता, मानवीय भाईचारा, अहिंसा, सामुदायिक एकता, गरीबों और उत्पीड़ितों के प्रति गहरी सहानुभूति आदि भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। अलग-अलग दौर में सिनेमा पर अलग-अलग तरह के प्रभावों को देखा जा सकता है। जैसे, देश के आज़ाद होने के बाद जब राष्ट्र का नवनिर्माण सबसे बड़ा प्रश्न था तब ज़्यादातर फिल्में इस तरह की बन रहीं थीं जिनका संदेश शांति, सद्भाव, भाईचारा और पारस्परिक सहयोग द्वारा देश का निर्माण था। इस निर्माण के मार्ग में आने वाली बाधाओं और समस्याओं को फिल्मों का विषय बनाया गया। इस दृष्टि से *‘आवारा’ (1951) जागृति (1954),मदर इंडिया (1957) और दो आँखें बारह हाथ* आदि फिल्मों का नाम लिया जा सकता है। भारतीय सिनेमा की मूलभूत विशेषताएं, संगीत-प्रधानता, संवेदनशीलता, मेलोड्रामा, अभिनय-कौशल, अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण, सौंदर्यबोध, प्राकृतिक आलंबन आदि रही हैं जो हॉलीवुड सिनेमा से भिन्न हैं।

सिनेमा के अस्तित्व में साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान है। साहित्य के बिना सिनेमा की कल्पना नहीं की जा सकती। जैसे साहित्य समाज का आईना है वैसे ही सिनेमा भी समाज का आईना होता है। किसी भी देश की कला और साहित्य, उस देश की संस्कृति को प्रतिबिंबित करता है। कला और साहित्य, अभिव्यक्ति के दो सशक्त माध्यम हैं। सिनेमा, साहित्य और समाज परस्पर पूरक तत्व हैं जिन्हें संस्कृति जोड़ती है। सिनेमा संस्कृति को भी प्रभावशाली ढंग से चित्रित करती है। सिनेमा अपने विस्तृत और व्यापक कलेवर में देश की सभ्यता, संस्कृति और सामाजिक संस्कारों की विरासत को संरक्षित करने की क्षमता रखती है। अंत: सिनेमा भी, भाषा और साहित्य की ही तरह, संस्कृति की वाहिका होती है। सिनेमा के आधारभूत तत्व कथा और पटकथा होते हैं। किसी भी कथ्य को सिनेमाई रूप देने के लिए उसे पटकथा (स्क्रीन प्ले) अर्थात ‘ फिल्मी दृश्यों के अनुकूल कथा लेखन ‘ नामक एक भिन्न विधा में ढाला जाता है तभी वह कथ्य फिल्म के योग्य बनती है। पटकथा लेखन साहित्यिक कथा लेखन से भिन्न प्रक्रिया है। किसी भी कहानी को फिल्मी माध्यम में ढालने के लिए उस कहानी का पटकथा में रूपान्तरण अनिवार्य होता है। फिल्मों के लिए ‘विषय एवं कथ्य ‘ का प्रमुख स्रोत साहित्य है। फिल्म निर्माण की परिकल्पना के लिए ‘साहित्य ‘ अनिवार्य है। फिल्म के लिए साहित्य के दो रूपों का इस्तेमाल किया जाता है। एक स्रोत विशुद्ध साहित्यिक रचनाएँ होती हैं जिन्हें पटकथा में परिवर्तित कर फिल्मांकन किया जाता है, दूसरे प्रकार का साहित्य वह होता है जिसे फिल्म के लिए लेखकों से लिखवाया जाता है। फिल्मी के

लिए कथा-लेखन और विशुद्ध साहित्यिक कृतियों पर आधारित पटकथाएँ, ये दोनों फिल्म के लिए दो अलग स्रोत हैं।

सिनेमा का प्रारम्भिक दौर साहित्यिक कृतियों की कथावस्तुओं पर ही केन्द्रित रहा है। हॉलीवुड और भारतीय सिनेमा, दोनों क्षेत्रों में फिल्म निर्माण के लिए प्रख्यात साहित्यिक कृतियों का ही प्रयोग किया गया। हॉलीवुड की फिल्मों मे विश्व साहित्य की अनमोल धरोहर को ही सर्वप्रथम फिल्मों के लिए चुना गया। इसमें होमर के ईलीयड और ओडिसी, डांटे की डिवाइन कॉमेडी से लेकर ग्रीक पौराणिक गाथाएँ, रोमन इतिहास पर रचे काव्य एवं ऐतिहासिक औपन्यासिक कृतियों पर ही सर्वाधिक फिल्में निर्मित हुईं जो सिनेमा के इतिहास में अमर हो गईं। इन फिल्मों ने सर्वकालिक और सर्वदेशीय लोकप्रियता हासिल की। हॉलीवुड ने रूसी, फ्रांसीसी और अंग्रेजी साहित्य का सर्वाधिक दोहन किया और एक से एक महान फिल्में निर्मित कीं। दास्तोव्स्की, टाल्स्टाय, गोर्की, विक्टर हयूगो, शेक्सपीयर, गोल्डस्मिथ, चार्ल्स डिकिन्स, थॉमस हार्डी, एमिली ब्रोन्टे, शॉर्लेट ब्रांटे, जेन ऑस्टिन, ऑस्कर वाइल्ड, स्टेनबेक, पर्ल्स बक आदि की क्लासिक रचनाओं पर हॉलीवुड ने लोकप्रिय, सार्थक और गंभीर फिल्में बनाकर विश्व सिनेमा को एक नई दिशा प्रदान की। साहित्य और सिनेमा के अध्ययन यह दर्शाते हैं कि साहित्यिक कृतियों पर निर्मित फिल्मों को जो सफलता हॉलीवुड सिनेमा जगत को प्राप्त हुई, वैसी सफलता भारतीय सिनेमा को उपलब्ध नहीं हुई। साहित्यिक कृतियों पर फिल्म-निर्माण की परंपरा हॉलीवुड की तुलना में भारत में अत्यंत क्षीण और नगण्य है। भारत में साहित्यिक कृतियों पर निर्मित फिल्मों की सफलता और लोकप्रियता अत्यल्प है। प्राय: फिल्मों में मूल रचना को ध्वस्त कर उसमें अनावश्यक फेर-बादल कर दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप फिल्म साहित्यिक रचना में निहित कथ्य एवं उद्देश्य को साकार करने में विफल हो जाती है। इसके लिए त्रुटिपूर्ण पटकथा लेखन, मूल कथानक में भारी फेर-बदल, परिवेश चित्रण में त्रुटियाँ, और दोषपूर्ण निर्देशन प्रमुख कारक होते हैं। इसके बावजूद कतिपय भारतीय फिल्म निर्माताओं ने सिनेमा के व्यावसायिक लाभ को नजर अंदाज करके सामाजिक एवं साहित्यिक मूल्यों के विस्तार के लिए महत्वपूर्ण फिल्में बनाईं। वास्तव में साहित्य की भांति फिल्म भी स्वप्न और रचनात्मकता का संगम है। साहित्य में यह संगम शब्दों के माध्यम से होता है तो फिल्म में तस्वीरों के माध्यम से।

कलाओं के मेल का अनुभव फिल्म है। अधिकतर प्रतिभावान फ़िल्मकारों ने अपने विशिष्ट कला संसार से संगति बनाकर ही फिल्म को समृद्ध किया। कुछ फ़िल्मकारों ने फिल्म में सौंदर्यबोध को पिरोया तो कुछ लोगों ने वैचारिकता को। जो लोग वैचारिकता को फिल्म में प्रयोग की भूमि के रूप में देखते हैं, वे निरंतर प्रयोग करते रहते हैं। वे ही साहित्य का माध्यमांतरण फिल्म में हैं। फणीशवरनाथ रेणु कृत 'मारे गए गुलफाम ' कहानी को शैलेंद्र ने ' तीसरी कसम ' नामक फिल्म में परिवर्तित किया जो व्यावसायिक धरातल पर बुरी तरह विफल हो गई किन्तु साहित्य और फिल्म समीक्षकों की दृष्टि में वह एक कालजयी फिल्म बन गई। ऐसे अनेक उदाहरण दृष्टव्य हैं। फिल्म हर दौर के सर्जकों और दर्शकों के लिए नया अनुभव बनकर उपस्थित होती हैं। फिल्म एक ऐसा प्रतिबिंब बनकर प्रस्तुत होती है, जिसमें साहित्य की भांति सृजन संदर्भ और सामाजिक संदर्भ, दोनों मौजूद रहता है। साहित्य की भांति फिल्म अपने में वैयक्तिक और सामाजिक संबंधों और अंतरद्वंद्वों को प्रकट करता हुआ निरंतर

अग्रगामी होता है। जिस प्रकार साहित्य अपने समय और समाज से गहरे अर्थों में प्रभावित होता है उसी प्रकार फिल्म भी समय और समाज के प्रभाव से वंचित नहीं रह सकता। इस तरह साहित्य और सिनेमा परस्पर एक दूसरे में अंतर्गुंफित रहते हैं। यह खेदजनक है कि सिनेमा को कला रूप में देखने की प्रवृत्ति भारतीय दर्शकों में विकसित नहीं हुई है इसीलिए सिनेमा साहित्य की भांति सामाजिक प्रश्नों को सार्थक परिवर्तनकारी चेतना के रूप में बदल पाने में असमर्थ रहा है।

हिंदी सिनेमा के प्रारम्भिक दौर में कई हिंदी और बांग्ला की साहित्यिक कृतियों पर सफल और सार्थक फिल्में निर्मित हुईं। सन् 1941 में भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' पर फिल्म बनी। रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रसिद्ध कहानी 'नौका डूबि ' को फिल्मी पटकथा में रूपांतरित करके सन् 1946 में 'हिंदी में मिलन ' और साठ के दशक में दुबारा ' घूँघट ' और तेलुगु में 'चरणदासी 'फिल्मों का निर्माण हुआ जो साधारण दर्शकों और फिल्म समीक्षकों द्वारा सराहा गया। ख्वाजा अहमद अब्बास की कहानी 'एंड वन यू डिड नॉट कम बैक ' पर वी शांताराम ने 1946 में ' डॉ कोटनिस की अमर कहानी ' नामक यादगार फिल्म बनाई।

हिंदी सिनेमा के आरंभिक दौर में साहित्यिक कृतियों पर जो फिल्में बनीं, उनमें और फिल्मों की साहित्यिकता के बीच अंतर देखा गया। उस दौर के फ़िल्मकार साहित्यिक कृतियों से प्रभावित तो होते थे, लेकिन साहित्यिक कृति पर फिल्म बनाते समय साहित्यिकता को अपनी फिल्मों में महत्व नहीं देते थे।

भारतीय सिनेमा अपने उदय काल में साहित्यिक कृतियों के फिल्मी रूपान्तरण से जगत को देखने की नवीन दृष्टि दे रहा था। उस दौर के फ़िल्मकारों ने साहित्यिक कृतियों को फिल्मों के द्वारा जन-सामान्य से रूबरू कराया और जनमानस को सिनेमा की असली ताकत और क्षमता से परिचित कराया। इसी युग में शरतचंद्र के उपन्यास देवदास, बिराजबहू, बड़ी- दीदी, परिणीता आदि उपन्यास हिंदी में अनूदित हुए और इन्हीं नामों से इनका फिल्मांकन हुआ। वस्तुत: हिंदी सिनेमा के शैशव काल में सिनेमा के निर्माण में सृजनात्मक साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। विश्व सिनेमा में यदि ज्यां रेनों , फैलिनी, गोडार्ड, विसकौंटी, बर्गमेन, कुरासोवा और तारकोव्स्की ने साहित्य और सिनेमा में उत्तरोत्तर विकसित हो रही अंतरंगता को पुष्ट किया तो विमल रॉय, मृणाल सेन, ख्वाजा अहमद अब्बास, ऋत्विक घटक, श्याम बेनेयल, गोविंद निहलानी, बासु चटर्जी आदि ने भारतीय सिनेमा की साहित्यिक परंपरा को आंदोलन के रूप में खड़ा किया।

भारतीय साहित्य और सिनेमा :

सन् 1931 में हिंदी की पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' प्रदर्शित हुई। तीन साल बाद ही 1934 में साहित्यिक कृति पर आधारित प्रथम फिल्म प्रेमचंद द्वारा उर्दू में रचित उपन्यास 'बाजारे हुस्न' का निर्माण हुआ। इस फिल्म के निर्माता-निर्देशक नानूभाई वकील थे। 1964 में प्रख्यात निर्माता- निर्देशक केदार शर्मा ने 'चित्रलेखा ' का निर्माण नए कलेवर में किया जिसे दर्शकों ने पसंद किया। 1941 से 1964 के बीच कुछ अन्य साहित्यिक कृतियों का फिल्मी रूपान्तरण किया गया। जैसे – प्रेमचंद की कहानी 'दो बैलों की कथा' (फिल्म-हीरा मोती 1959), चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' (1960) आदि। इसी काल में सिनेमा का साहित्यिक रूप आकार

लेने लगा था। शरतचंद्र की सुंदरतम रचनाओं को देश भर में जन-जन तक पहुंचाने का श्रेय सिनेमा को ही है। 1960 से पूर्व हिंदी सिनेमा में हिंदी साहित्यकारों की छवि को गंभीरता से प्रस्तुत नहीं किया गया, जब कि बांग्ला साहित्यिक कृतियों के साथ पूरा न्याय हो पाया है, इसका श्रेय बांग्ला फ़िल्मकारों को प्राप्त है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर (1861-1941), जन्म के डेढ़ सौ वर्ष और मृत्यु के सात दशक बाद भी आज तेजी से बदलते समाज और इस राष्ट्र की सामूहिक चेतना में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विद्यमान हैं। रवीन्द्रनाथ अकेले ऐसे कालजयी विचारक,चिंतक और संस्कृतिकर्मी हैं जिसने भारतीय उपमहाद्वीप के सामासिक जीवन का प्रतिनिधित्व, सुविशाल और सुविस्तृत फ़लक पर किया है। उनकी तेजोमय विविधोन्मुखी प्रतिभा लोगों को आश्चर्य में डाल देती है। वे एक उत्कृष्ट कवि, उत्तम कोटि के कथाकार, नाटककार, एक अभिनव संगीतकार, अप्रतिम चित्रकार और विलक्षण शैलीकार थे। इतना ही नहीं वे एक महान शिक्षाविद, चिंतक और सुयोग्य समाजचेता भी थे। अपनी रचनात्मक क्षमता और मानसिक ऊर्जा के द्वारा उन्होंने अपने वैश्विक जीवन दर्शन को समूचे विश्व में व्याप्त किया। रवीन्द्रनाथ बीसवीं सदी की सार्वदेशिक महान विभूतियों में से एक हैं। उन्होंने अपने सार्वभौम व्यक्तित्व की विकसित अवधारणा में प्राचीन सभ्यताओं एवं परंपरागत मूल्य सरंचना को समाविष्ट किया। रवीन्द्रनाथ का चिंतन, पूर्व-पश्चिम के द्वंद्व का निराकरण करते हुए एक ऐसी विश्वदृष्टि से संपन्न है जो एक साथ भारतीय, सार्वभौम एवं सार्वदेशिक थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर केवल बांग्ला साहित्य के ही नहीं वरन समस्त भारतीय साहित्य का प्रतिनिधित्व करने वाले बहुविज्ञ साहित्यचेता हैं।

'गोरा' रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कालजयी रचना है जो केवल बांग्ला संस्कृति की ही नहीं अपितु समस्त भारतीय संस्कृति की वैचारिकता का समाहार है। इस कृति में रवीन्द्रनाथ ने भारत की प्राचीन और आधुनिक चिंतन परंपराओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। धर्म और कर्म के द्वंद्व को आधुनिक दृष्टि से मानवता के संदर्भ में स्पष्ट किया है। नवजागरण आंदोलन का सबसे बड़ी समस्या धार्मिक कर्मकांड और कट्टर ब्राह्मणत्व के आचार-विचारों से आक्रांत भारतीय समाज की अंतश्चेतना थी। रवीन्द्रनाथ ने 'गोरा' उपन्यास के माध्यम से हिंदुत्व के विभिन्न व्यवहारिक स्वरूपों की आलोचनात्मक प्रोक्ति प्रस्तुत की है। दूरदर्शन ने इस कालजयी उपन्यास पर इसी नाम से धारावाहिक टीवी फिल्म का निर्माण कर लिया है जो प्रसारण की प्रक्रिया में है। इस टीवी फिल्म की निर्माता गार्गी सेन और निर्देशक सोमनाथ सेन हैं। गोरा के पात्र में गौरव द्विवेदी और उनके साथ विभिन्न भूमिकाओं में प्रभात रघुनंदन, स्वाति सेन, चंद्रहास तिवारी, अनुया भागवत और जॉय श्री अरोड़ा जैसे फिल्म एंड टेलीविजन इंस्टीट्यूट के उदीयमान प्रतिभाशाली कलाकार दिखाई देंगे। रवीन्द्रनाथ ने इस उपन्यास में 1857 के विद्रोह के बाद के दशकों की सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों का सजीव चित्रण किया है।उन्होंने इस उपन्यास में राष्ट्रवाद, कट्टरवाद और रूढ़िवादिता पर चोट की है, साथ ही उपन्यास के नायक ' गोरा' के माध्यम से राष्ट्रीयता, हिन्दुत्व और ब्रह्म समाज की मान्यताओं के मध्य तत्कालीन समाज में व्याप्त संघर्ष को प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है। इससे पूर्व सत्तर के दशक में दूरदर्शन के प्रारम्भिक दौर में 'गोरा' टीवी धारावाहिक के रूप में दर्शकों के सम्मुख आ चुका है, जिसने दर्शकों को विशेष रूप से आकर्षित किया। टीवी फिल्मों का फ़लक

संकीर्ण और सिमटा होता है उसमें विस्तार का अभाव होता है फिर भी ‘गोरा’ में वर्णित परिवेश और घटनाओं को टीवी के छोटे पर्दे पर भी बहुत ही असरदार ढंग से प्रस्तुत किया गया।

1961 में भारत में अंतर्राष्ट्रीय फिल्म महोत्सव आयोजित क्या गया। यह वर्ष रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म शताब्दी वर्ष था। इसलिए उनकी कृतियों पर कई फिल्मों का निर्माण हुआ। विमल- रॉय ने टैगोर की विश्वविख्यात कहानी ‘ काबुलीवाला ‘ इसी शीर्षक से फिल्म बनाई। भारतीय सिनेमा में टैगोर की तुलना में शरतचंद्र अधिक लोकप्रिय हुए और उन्हीं की ज़्यादातर कृतियाँ फिल्मों के लिए चुनी गई और वे सभी अत्यंत लोकप्रिय हुईं। केवल शरतचंद्र कृत देवदास (1917) उपन्यास पर हिंदी में पाँच, बांग्ला में एक, तेलुगु में दो, और तमिल में एक बार फिल्में बनीं। रवीन्द्र साहित्य पर आधारित फिल्मों में ‘नष्ट नीड ‘ उपन्यास पर ‘चारुलता ‘(1964), चार-अध्याय (1977), ‘घरे-बाहिरे ‘ उपन्यास पर उसी नाम से सत्यजीत रे द्वारा 1964 में निर्मित ‘घरे बाइरे ‘, स्त्रीर पत्र उपन्यास पर 1972 में पुरनेन्दु पत्री के निर्देशन में ‘स्त्रीर पत्र ‘ और ‘चोखेर बाली‘ उपन्यास (हिंदी में आँख की किरकरी) पर आधारित फिल्म ‘चोखेर बाली’ (हिंदी एवं बांग्ला में) फिल्में निर्मित हुईं। ये सभी फिल्में स्त्री समस्याओं पर केन्द्रित बांग्ला उपन्यासों पर आधारित हैं। बांग्ला साहित्य में नवजागरण काल से ही स्त्री समस्याओं की प्रधानता रही है इसी कारण बांग्ला फिल्में मूलत: भारतीय नारी जीवन में व्याप्त सामाजिक शोषण, उत्पीड़न और अन्य विसंगतियों को यथार्थ रूप में चित्रित करती हैं। इसी काल में बंकिमचंदर के उपन्यास ‘ आनंदमठ’ का फिल्मी रूपान्तरण भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस फिल्म से बंकिम द्वारा रचित वंदे मातरम गीत सारे देशवासियों में स्वतन्त्रता गीत के रूप में व्याप्त हो गया। बंकिमचंद्र, शरतचंद्र और रवीन्द्रनाथ टैगोर का कथा साहित्य भारतीय सिनेमा के लिए अत्यंत प्रभावशाली और लोकप्रिय सिद्ध हुआ। सिनेमा के माध्यम से ही ये कालजयी लेखक भारत के जन जन में लोकप्रिय हुए।

रवीन्द्रनाथ एक युगप्रवर्तक कथाकार के रूप में बंकिमचन्द्र के ऐतिहासिक रोमांस के समानांतर, युगीन यथार्थ को अपने आख्यानों में चित्रित कराते हैं। उनका कथा साहित्य पारिवारिक समस्याओं से लेकर राष्ट्रीय प्रश्नों तक के गहन विमर्श को प्रस्तुत करने में सफल हुआ। व्यक्तिगत और सामाजिक प्रश्नों से जुड़े परस्पर विपरीत ध्रुवान्तों को निकट लाते हुए रवीन्द्रनाथ ने कथा साहित्य की आस्वाद-परकता को बदला और इसे तत्कालीन मानवीय समस्याओं से संपृक्त किया। कथा साहित्य को जीवन-व्यवहार की जीवंत मानव-संहिता बनाया।

1902 मे प्रकाशित 'नष्टनीड़ ' लघु-उपन्यास की रचना से रवीन्द्रनाथ की अतिविशिष्ट कथा-यात्रा के साथ साथ बांग्ला भाषा की एक नई कथा-यात्रा आरंभ हुई। बीसवीं शताब्दी के प्रथम वर्ष में बांग्ला के यशस्वी कथाकार बंकिमचंद्र चटर्जी द्वारा प्रवर्तित एवं संपादित 'बंगदर्शन' पत्रिका को एक बार फिर नए रूपाकार के साथ प्रकाशित किया गया, रवीन्द्रनाथ इसके तीसरे संपादक बने। 'नष्टनीड़ ' रवीन्द्रनाथ का पहला आधुनिक एवं चर्चित उपन्यास है जो पहले 'भारती पत्रिका ' के लिए धारावाहिक तौर पर लिखा गया। इसके साथ साथ वे बंगदर्शन पत्रिका के लिए 'चोखेर बालि ' (हिंदी अनुवाद - आँख की किरकिरी) उपन्यास भी धारावाहिक रूप में लिख रहे थे। चोखेर बाली के समानान्तर लिखित और धारावाहिक रूप में प्रकाशित टैगोर का दूसरा उपन्यास नष्टनीड पूरी तरह उपन्यास तो नहीं कहा जा सकता – हालाकि इसका ढांचा कुछ वैसा ही था; लेकिन इसकी अंतर्वस्तु एक कहानी

ISSN 2454-7131

बल्कि लंबी कहानी जैसी थी। बांग्ला में इसे गल्पोन्यास भी कहा गया। इस उपन्यासिका से कथा लेखन में एक नए युग का प्रारम्भ हुआ जो बांग्ला कथा लेखन के क्षेत्र में प्रतिमान बना। रवीन्द्रनाथ ने *नष्टनीड* उपन्यास के द्वारा बंगाली समाज के उच्च-मध्य वर्ग की स्त्रियॉ की मनोदशा का प्रामाणिक और विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत किया। इस उपन्यास की कहानी एक दैनिक समाचार-पत्र के अत्यंत व्यस्त संपादक से जुड़ी है। अपने कार्य दायित्व के प्रति अत्यधिक समर्पित और सक्रिय पति भूल जाता है कि उसकी युवा और सुंदर पत्नी घर पर उसकी प्रतीक्षा कर रही है। पत्नी के एकांत क्षणों और प्रतीक्षा के पलों में संपादक का प्रतिभावान भतीजा उसकी पत्नी का साथ देता है। एकांत पलों के इस साथी में साहित्य के प्रति गहरी रुचि है। साहित्य लेखन के लिए वे दोनों परस्पर एक दूसरे को प्रेरित करते हैं। परिणामस्वरूप कुछ समय बाद वे दोनो सफल नवोदित रचनाकार के रूप में उभरते हैं।उपन्यास में पारिवारिक तनाव और परस्पर अधिकार एवं अहंभाव के टकराव से उत्पन्न समस्या का दूसरा अध्याय यहीं से आरंभ होता है। उधर संपादक पति को भी यह प्रतीत होता है कि जिस पत्नी की वह अब तक उपेक्षा करता रहा था - वह अब काफी बादल चुकी है। इससे उसके पुरुष-सत्तात्मक अहं को चोट तो लगती है लेकिन अब वह गुजरे वक्त को लौटाने में सर्वथा असमर्थ है।

नष्टनीड़ में औपन्यासिक विस्तार का अभाव है परंतु कथानक के तीनों प्रमुख पात्रों की त्रिकोणात्मक मानसिकता को समझने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रवीन्द्रनाथ ने आधुनिक समय और समाज के विरोधाभास और मनुष्य की स्थिति एवं नियति को रचनाकार की सूक्ष्म समाजशास्त्रीय दृष्टि से परखा था। रवीन्द्रनाथ की सोच अपने समय से काफी आगे थी। स्त्री-पुरुष संबंधों की जटिलता को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने में उन्होंने यथार्थ को ही प्रस्तुत किया। उनका यह प्रयास परंपरागत रोमांटिक प्रेम प्रसंगों के वर्णन से भिन्न एक यथार्थवादी धरातल से जूझने और टकराने का अभिनव उपक्रम था। रवीन्द्रनाथ के इस उपन्यास से कथा-लेखन की एक नई परिपाटी का शुभारंभ हुआ।

चोखेर बालि (आँख की किरकिरी) उपन्यास का प्रकाशन 1902 में हुआ। इसका आरंभ माँ राजलक्ष्मी और डॉक्टरी की पढ़ाई कर रहे उसके बेटे महेंद्र के बीच विवाह के प्रसंग से होती है। राजलक्ष्मी अपनी बचपन की सहेली हरिमती की बेटी विनोदिनी से उसका विवाह करना चाहती थी लेकिन महेंद्र स्वीकार नहीं करता। विनोदिनी का विवाह विपिन नामक युवक से हो जाता है जो कुछ ही दिनों में गुजर जाता है। इधर महेंद्र का विवाह आशालता नाम की लड़की से हो जाता है। आशालता भोलीभाली और थोड़ी सी नासमझ सी लड़की है जिसमें व्यवहार-कुशलता का पूर्णत: अभाव है। रवीन्द्रनाथ ने स्त्री-पुरुष संबंधों का मूल आधार परस्पर प्रेम के आदान-प्रदान को बताया है। पुरुष को स्त्री से और स्त्री को पुरुष से जब वांछित प्रेम नहीं मिलता तो जीवन दूभर हो जाता है। ऐसे में जीवन टूटकर बिखरने लगता है जिससे व्यक्ति और समाज के मध्य टकराव की स्थिति का उत्पन्न होना स्वाभाविक है, जिसका समाधान कठिन हैं। रवीन्द्रनाथ ने इन्हीं स्थितियों के मध्य कथानक का तानाबाना बुना है। महेंद्र और आशा के दांपत्य जीवन में विनोदिनी का प्रवेश एक संकट को जन्म देता है। यह स्थिति विवाह की संस्था को चुनौती देती है। विनोदिनी अपने अनुरागमय व्यवहार और सेवा भाव से राजलक्ष्मी को मोहित कर अपने वश में कर लेती है। विनोदिनी का सौन्दर्य और उसका समर्पित आचरण महेंद्र और उसकी पत्नी

आशालता दोनों को बाँध लेता है। आशालता और विनोदिनी परस्पर प्रिय सहेलियाँ ‘चोखेर बालि ‘ बन जाती हैं। विनोदिनी, महेंद्र और आशालता दोनों की अंतरंगता हासिल कर लेती है। वह महेंद्र से प्रेम करने लग जाती है। वह महेंद्र को अपने प्रेम के मोहपाश में बांधकर अपने वैधव्य जीवन की रिक्तता को भर लेना चाहती है। कथानक के एक बिन्दु पर महेंद्र और विनोदिनी दोनों सामाजिक बंधनों और नियमों का अतिक्रमण कर शाश्वत मिलन की कामना करने लगते हैं। महेंद्र विनोदिनी से शाश्वत मिलन के लिए तड़प उठता है। एक ओर विनोदिनी, आशालता और महेंद्र के संबंधों में बिखराव नहीं चाहती किन्तु वह महेंद्र से अपने

प्रेम को नकार भी नहीं सकती। उसका यह द्वंद्व निरंतर उसे भटकाता रहता है। विवाहित महेंद्र विनोदिनी के इतने निकट आ जाता है कि वह आशा से दूर छिटकता चला जाता है। वह घर-परिवार और समाज की मर्यादा त्यागकर विनोदिनी के साथ कहीं दूर जाकर जीवन बिताने का फैसला कर लेता है। विनोदिनी, उसे कभी विलासी युवती तो कभी प्रेम तपस्विनी के रूप में दिखाई देती थी। वह विनोदिनी के अन्तर्मन को सही रूप से भाँप नहीं सकता है। विनोदिनी एक अबूझ पहेली बनकर उपन्यास में छाई रहती है। वस्तुत: विनोदिनी के चरित्र में रवीन्द्रनाथ ने ऐसे कई गुण भर दिए थे जिसे न तो महेंद्र समझ सका और न उसका पूर्व प्रेमी बिहारी।

विनोदिनी वास्तव में अपने लिए एक पहेली थी जिसे स्वयं रवीन्द्रनाथ ने रहस्यमय बनाए रखने का यत्न किया है। वह सोचा करती थी –“ जिस महेंद्र ने मेरे जीवन की सार्थकता को नष्ट कर दिया, उसने मुझ जैसी स्त्री की उपेक्षा कर आशा जैसी मंदबुद्धि बालिका को कैसे अपना लिया ? अब उसी महेंद्र को वह चाहती है या उससे चिढ़ती है – वह यह तय नहीं कर पाती। क्या वह उसे इसकी सज़ा देगी या अपना हृदय सौंप देगी ? “ लेकिन वह किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाती। महेंद्र ने सचमुच उसके हृदय में आग लहकाई थी – यह आग ईर्ष्या की थी या प्रेम की – या फिर इस आग में भी दोनों की मिलावट थी – वह काफी सोच-विचार कर भी यह समझ नहीं पाती थी। लेकिन जब तक वह कोई फैसला कर पाती तब तक बिहारी भी उसके हृदय के एक कोने में स्थान बना चुका था।महेंद्र और विनोदिनी के बीच पनपने वाले प्रेम को, उन दोनों के भीतर सुलगने वाले प्रेम की आग को महेंद्र की माँ राजल्क्ष्मी की भी मौन स्वीकृति मिली हुई है – जिसे विनोदिनी अच्छी तरह समझ रही थी। वरना वह आशा की अनुपस्थिति में महेंद्र के निकट आने का साहस जुटा नहीं पाती। महेंद्र भी उसके प्रति इतना आग्रही नहीं हो पाता। स्थिति जब हद से आगे बढ़ने लगती है तो राजलक्ष्मी विनोदिनी पर ताना कसते हुए कहती है – “ मुझे यह पता नहीं था कि तू कैसी मायाविनी है ? “ इस पर विनोदिनी भी पलटकर कहती है – “ तुमने ठीक ही कहा बुआ ! कोई किसी के बारे में नहीं जानता। अपना मन भी क्या कोई जान पाता है ? क्या तुमने अपनी बहू से ईर्ष्या करते हुए इस मायाविनी के द्वारा अपने बेटे का मन लुभाना नहीं चाहा था ? एक बार ठीक से सोचकर तो देखो ! “

रवीन्द्रनाथ ने महेंद्र, विनोदिनी, आशालता और बिहारी – इन चार प्रमुख चरित्रों के इर्द-गिर्द उन प्रसंगों को बहुविध विस्तार दिया है जिनसे न केवल बाहरी क्रिया-कलाप द्वारा उनकी पात्रता सुनिश्चित हो बल्कि आंतरिक द्वंद्व भी अभिव्यक्त हो। बिहारी के प्रति आशा का खिंचाव और विनोदिनी का बिहारी के प्रति आदर भाव जताने वाले प्रसंग इसके उदाहरण हैं। यही नहीं, महेंद्र का विनोदिनी के प्रति कातर प्रेम निवेदन वाले प्रसंग और सम्बद्ध संवाद अत्यंत सटीक हैं। अंत में महेंद्र का प्रायश्चित्त इन वाक्यों में फूट पड़ता है – “ जब तक तुम मरती नहीं, तब

तक मेरी प्रत्याशा भी नहीं मरेगी – मुझे छुटकारा नहीं मिलने वाला। मैं आज से, अपने अन्तर्मन से तुम्हारी मृत्यु की कामना करूंगा। तुम चली जाओ और मुझे मुक्त करो ! न तो तुम मेरी बनो और न बिहारी की। मेरी माँ रो रही है, मेरी पत्नी बिलख रही है – दूर रहकर भी मुझे उनके आँसू जला रहे हैं। जब तक तुम मर नहीं जाती तब तक मैं उनकी आँखों के आँसू नहीं पोंछ सकूँगा। "

दूसरी तरफ कथानक का एक और अत्यंत रोचक और जटिल संदर्भ उभरकर आता है। बिहारी के प्रेम निवेदन पर विनोदिनी कहती है – " अगले जन्म में मैं तुम्हें पाने के लिए तप करूंगी। इस जनम में अव और कोई चाह नहीं और कामना भी नहीं। मैंने बहुत दुःख दिया है और बहुत दुःख पाया है। मुझे काफी सीख भी मिली है। अगर मैं उस सीख को भूल जाती तो मैं तुम्हें नीचा दिखाकर और भी हीन बन जाती। लेकिन तुम ऊंचे बने रहे, इसीलिए मैं आज अपना सिर फिर एक बार उठा पाई – मैं यह आश्रय धूल में नहीं मिला सकती।"

उपन्यास के अंत में एक बार फिर आशा के मन में विनोदिनी के प्रति एक तरह की विषण्णता या कटुता का संकेत रवीन्द्रनाथ ने दिया है, जो उसकी चारित्रिक परिपक्वता की सूचक है। अब वह समझ गई थी कि विनोदिनी और महेंद्र आपस में क्यों प्रेम करने लगे थे क्योंकि वह उसे वांछित प्रेम देने में सक्षम नहीं थी। महेंद्र के लिए उसी प्रेम की दुहाई देती हुई विनोदिनी आशा से ही नहीं, सबसे दूर चली जाती है।

इस उपन्यास में रवीन्द्रनाथ ने एक जाना-पहचाना परिवेश और सुविस्तृत घर-परिवार निर्मित किया था, जो मध्यवर्गीय मूल्यों का पक्षधर था। यहाँ एक रूढ़िवादी लेकिन आत्मसम्मानी काकी थी, जो पुरातन मूल्य मर्यादा की कट्टर पक्षधर थी। एक ममतामयी माँ थी, लेकिन घर का बेटा बिगड़ता चला जा रहा था। पत्नी लगातार प्रताड़ित होती रहती थी और इन तमाम उलझनों से सबसे ज्यादा उद्विग्न रहती थी – युवा विधवा विनोदिनी, जिसका पति विवाह के कुछ ही दिनों में गुजर गया था। उसके मन का अंतर्द्वंद्व और तन की अतृप्ति का अत्यंत प्रभावी एवं विश्वसनीय चित्रण ही उपन्यास की विशिष्टता बनी। एकाकी विनोदिनी की खामोशी ने और अवसरानुकूल टिप्पणी के साथ उसकी रचनात्मक ऊर्जा ने इस अंतरंग आख्यान को रोचक, उत्तेजक और आधुनिक बना दिया।

बाहरी तौर पर सामान्य प्रतीत होने वाली इस परिवार की दुनिया बड़ी शांत और संयत दिखाई देती है लेकिन समय पाकर यही सामान्य और साधारण परिस्थिति असामान्य और उद्धत हो जाती है, बल्कि उग्र उन्माद में बदल जाती है। स्पष्ट है कि इसका प्रशांत परिवेश अंदर ही अंदर सुलगता रहता है और अंत में उसी अंतर्दाह में सब कुछ जलकर राख़ हो जाता है। जब कि बाहर के लोगों को इसकी भनक तक नहीं पड़ती, क्योंकि उन्हें दूर से न तो कोई आग दिखाई देती पड़ती है और न धुआँ। विनोदिनी और महेंद्र की प्रेम कथा की अकल्पनीय परिणति होती है। अंत में महेंद्र विनोदिनी के पाँव छूता है। विनोदिनी भी इतना ही कह पाती है – " मुझे माफ कर देना, ईश्वर तुम्हारा भला करे। " तभी अपनी मृत्यु से पहले राजलक्ष्मी अपने लाड़ले बेटे महेंद्र से कहती है –" मेरे बक्से में दो हजार के नोट पड़े हैं, वे रुपये मैं विनोदिनी को दे रही हूँ। वह विधवा है, अकेली है, इन रुपयों से उसके दिन मजे में कट जाएँगे। लेकिन उसे अपने यहाँ मत रखना। "

इस उपन्यास के अंत को लेकर तत्कालीन आलोचकों और पाठकों द्वारा कई तरह की आपत्तियाँ दर्ज की गई थीं, विशेषकर बिनोदिनी के प्रेम प्रसंग को लेकर। इसका संकेत डॉ सुकुमार सेन ने अपने *'बाङ्ला साहित्य का इतिहास '* ग्रंथ में किया है। वे लिखते हैं – " विनोदिनी की जीवन चर्या का कोई भी दूसरा अंत तत्कालीन समय के आधुनिक से आधुनिक पाठक को भी अकारण आघात पहुंचाता जब कि रवीन्द्रनाथ की इस प्रकार के आकस्मिक आघात पहुंचाने में कोई आस्था नहीं थी और उन्होंने कभी अमर्यादित तौर पर मौलिक होने का प्रयत्न भी नहीं किया। "

रवीन्द्रनाथ तत्कालीन समाज में स्त्री-पुरुष और पति-पत्नी संबंधों की भावात्मक स्थितियों और भूमिकाओं को उकेर रहे थे। पति-पत्नी और प्रेमी-प्रेमिका अपने व्यक्तिगत, सामाजिक और भावगत जीवन में एक दूसरे के प्रति कितने सहिष्णु और संवेदनशील होते हैं, इसका आकलन रवीन्द्रनाथ ने सूक्ष्मता और गहराई से किया है। वे केवल रोचक घटनाओं का घटाटोप नहीं खड़ा करते हैं बल्कि वे उस रहस्य को भी भेदना चाहते हैं जो परस्पर संबंधों को विच्छिन्न कर देता है और एक दूसरे के प्रति उन्हें निष्ठुर बना देता है।

'चोखेर बालि ' ने जहां रवीन्द्रनाथ के पाठकों और प्रशंसकों को उद्वेलित किया, वहाँ उन्हें स्तब्ध और विचलित भी किया है क्योंकि वे एक युवा विधवा के बहाने प्रेम की एक नई परिभाषा के साथ इसे सामाजिक संदर्भ से भी जोड़ते हैं। चोखेर बालि की रचना से रवीन्द्रनाथ ' *बाउ-ठाकुरानीर हाट, राजर्षि और करुणा '* जैसे आख्यानधर्मा उपन्यासों से सर्वथा अलग एक नई कथाभूमि का निर्माण कर रहे थे। रवीन्द्रनाथ ने स्पष्ट कर दिया कि अपने देशकाल की आकांक्षा और पात्रगत वैशिष्ट्य को पूरी प्रामाणिकता से उकेरे बिना कोई भी कृति अपने पाठक समाज को प्रभावित नहीं कर सकती। विनोदिनी की बेबसी और खामोशी का चित्रण रवीन्द्रनाथ ने मनोविज्ञान के स्तर पर किया था। तर्कसंगत कार्य-व्यवहार और संवाद से इसका वांछित प्रभाव इसके पूरे कथ्य पर पड़ा, जिसने इस उपन्यास को सर्वथा अलग पहचान दी।

नाटकों के रूप में रवीन्द्रनाथ टैगोर की कहानियाँ और उनके उपन्यासों के कथानकों का बांग्ला में सर्वाधिक मंचन हुआ है। टैगोर की कहानियाँ टीवी फिल्मों के रूप में बहुत लोकप्रिय हुईं। रवीन्द्रनाथ की उपर्युक्त कृति

'चोखेर बाली' (आँख की किरकिरी) का फिल्मी रूपान्तरण बांग्ला और हिंदी में 2003 में बांग्ला के सुप्रसिद्ध निर्देशक ऋतुपर्णो घोष के निर्देशन में किया गया। इस फिल्म के निर्माता श्रीकांत मोहता और महेंद्र सोनी थे। श्रीकांत वेंकटेश नामक फिल्म निर्माण संस्था ने इसका निर्माण किया था। इस फिल्म का संगीत निर्देशन देबोज्योति मिश्रा ने किया। दो करोड़ रुपए की लागत से निर्मित यह फिल्म बहुत ही प्रभावशाली फिल्म है जिसमें टैगोर की औपन्यासिक कला को पूरी तरह उभारा गया है। फिल्म में कथा नायिका विनोदिनी की भूमिका को ऐश्वर्य राय, सहनायिका आशालता की भूमिका को रीमा सेन, नायक महेंद्र की भूमिका को प्रसेनजीत और बिहारी की भूमिका को तोटा रॉय चौधरी जैसे सिनेमा और रंगमंच के कलाकारों ने निभाया है। महेंद्र की माता राजलक्ष्मी के पात्र को लिली चक्रवर्ती ने परदे पर जीवंत कर दिया। इस फ़िल्म की विशेषता इसका परिवेश है जो की उपन्यास के परिवेश को हूबहू जीवित चित्रित कर देता है। विनोदिनी को ही आशालता 'चोखेरबाली ' के नाम से पुकारा करती है। चोखेर बाली की जटिल, अंतर्द्वंद्व से ग्रस्त, दांपत्य प्रेम से वंचित, विधि द्वारा छली गई आकर्षक नव-

यौवना, परकीया प्रेम और कामेच्छा से त्रस्त, सामाजिक रूढ़ियों में जकड़ी हुई ' विनोदिनी ' को ऐश्वर्य राय ने रवीन्द्रनाथ टैगोर की विनोदिनी उर्फ चोखेर बाली के माध्यम से दांपत्य प्रेम और सहवास से वंचित स्त्रियॉं की मनोदशा को साकार कर दिया। 'चोखेर बाली' फिल्म ने टैगोर के उपन्यास को लोकप्रियता प्रदान की। यह फिल्म टैगोर के उपन्यास का उत्कृष्ट रूपान्तरण है। राजलक्ष्मी द्वारा विनोदिनी को अपने विवाहित पुत्र महेंद्र की सेवा के लिए प्रोत्साहित करने की भावना के पीछे एक विचित्र और प्रतिहिंसात्मक सुख का अनुभव राजलक्ष्मी करती है जिसे फिल्म में बहुत ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। आशालता का विनोदिनी के साहचर्य पर अगाध विश्वास, जिसका परिणाम उसे ही भोगना पड़ता है, इन सभी प्रसंगों का फिल्मांकन यथार्थपूर्ण शैली में किया गया है जो फिल्म को रोचक और आकर्षक बनाता है। टैगोर द्वारा चित्रित दांपत्य जीवन की जटिलताओं और पति के विनोदिनी से विवाहेतर संबंधों का चित्रण फिल्म को नई ऊँचाई प्रदान करता है। फिल्म का अंत करुण बन पड़ा है जहां विनोदिनी, प्रायश्चित्त करने के लिए, आशालता और महेंद्र के जीवन से दूर चली जाती है। ऋतुपर्णो घोष का निर्देशन अपनी कलात्मक छाप फिल्म पर छोड़ता है।

टैगोर की अत्यंत लोकप्रिय कहानी 'काबुलीवाला ' का फिल्मी रूपान्तरण हेमेन गुप्ता के निर्देशन में सुप्रसिद्ध फ़िल्मकार विमल रॉय ने 1961 में निर्मित किया। इस फिल्म में बलराज साहनी (अब्दुल रहमान खान), उषा किरण (मिनी की माँ- रमा), सोनू (मिनी) आदि ने कहानी के 'अब्दुल रहमान खान (काबुलीवाला) की संवेदनाओं को जिस भावुकता से प्रस्तुत किया वह हमेशा हमेशा के लिए एक क्लासिक फिल्म के रूप में लोकप्रिय हो गया। अब्दुल रहमान खान जो एक सूखे मेवे बेचने वाला अफगान काबुलीवाला है जिसके प्रति नन्ही मिनी आकर्षित होती है। मिनी उसे उसकी बेटी अमीना (बेबी फरीदा) की याद दिलाती है। मिनी में ही वह अमीना की छवि देखता है और मिनी ही उसकी बेटी के रूप में साकार हो जाती है। मातृभूमि की याद में उसका गाया हुआ गीत – " ऐ मेरे प्यारे वतन, ऐ मेरे बिछड़े चमन, तुझपे दिल क़ुरबान ! तू ही मेरी आरज़ू, तू ही मेरी जान ! " मातृभूमि से दूर होने की उसकी तड़प, दर्शकों में देशभक्ति का सहज संचार करती है। फिल्म के अन्य गीत - 'गंगा आए कहाँ से, काबुलीवाला आया काबुलीवाला आया काबुलकंधार से, ओ या कुर्बान ' भी सार्वकालिक लोकप्रिय हैं। फिल्म में सलिल चौधरी का मधुर संगीत प्रशासनीय है। मिनी के रूप में उसे अपनी बेटी की मधुर याद, मिनी के प्रति उसका वात्सल्य, मानवीय संवेदनाओं के सार्वभौम स्वरूप को चित्रित करता है। अभिनेता बलराज साहनी को काबुलीवाला फिल्म के लिए आज भी याद किया जाता है।

काबुलीवाला कहानी बांग्ला में टैगोर द्वारा 1890 में संपादित एक बांग्ला साहित्यिक पत्रिका ' साधना' में प्रकाशित हुई थी जिसका अंग्रेजी में अनुवाद आइरिश महिला मार्गरेट एलिजाबेथ नोबल (सिस्टर निवेदिता) ने किया और इसका प्रकाशन अंग्रेजी में 'मॉडर्न रिव्यू ' में प्रकाशित हुआ था, जिससे इस कहानी को अंतर्राष्ट्रीय लोकप्रियता हासिल हुई।

टैगोर के कथा साहित्य पर आधारित फिल्मों में मिलन (1946) और कशमकश (2011) जो की नौका डूबि (हिंदी में अनूदित - नौका डूबी, अंग्रेजी में The Wreck) भी बंगाली समाज में व्याप्त स्त्रियॉं की विवाह की दयनीय दयनीय एवं अन्यायपूर्ण कुरीतियों तथा परंपराओं पर प्रहार करती है। इस उपन्यास विचित्र अनहोनी

परिस्थितियों में घिरी एक नव-विवाहिता वधू के जीवन की विडंबनाओं को नियति के क्रूर खेल के रूप में प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास/फिल्म की कहानी एक नाव दुर्घटना से जुड़ी है। रमेश नामक एक नवयुवक जो कानून की पढ़ाई कर रहा था, उसे पिता की मर्ज़ी से, दूर किसी गाँव की लड़की से विवाह करना पड़ता है। विदाई के बाद दैवयोग से वह नाव जिसमें पति-पत्नी और बाराती सवार थे वह नाव तूफान में फँसकर डूब जाती है। होश आने पर रमेश जिस ब्याहता युवती को अपने निकट पाता है, वह उसकी नहीं बल्कि किसी और की नवविवाहिता पत्नी (कमला) थी जो इसी दुर्घटना का शिकार होकर पति से बिछुड़ गई थी। वधू वेश में कमला को भी यह पता नहीं कि रमेश उसका पति नहीं क्योंकि उसका विवाह जल्दबाज़ी में हो जाता है इसलिए वह यह भी नहीं जानती थी कि उसके पति का क्या नाम है। उन दिनों ऐसा अक्सर होता था। कन्याओं का विवाह उन्हें वर का नाम बताए बिना ही कर दिया जाता था। इस घोर अन्यायपूर्ण परंपरा की ओर टैगोर ने संकेत किया है। खुद रमेश पर यह सच्चाई काफी दिनों बाद प्रकट होती है और तब वह कमला से सायास दूर रहने लगता है। जब उसे पता चलता है कि यह सुशीला उसकी परिणीता स्त्री नहीं है तो वह उसके संबंध में खोज शुरू कर देता है। उसे पता चलता है कि जिसे वह सुशीला समझा रहा है वह वास्तव में कमला है जिसके पिता का नाम तारिणीचरण चट्टोपाध्याय और गाँव धोबापुकुर है। वह उसके पति के बारे में भी खोज करने लगता
है। अनेक विडंबनाओं के मध्य रमेश अपने स्वार्थ को त्यागकर कमला के पति को तलाशकर उसे उसके ससुराल पहुंचाने के प्रयत्न में जुट जाता है। इस उपन्यास में इस कहानी के समानान्तर एक और कहानी अन्नदा बाबू की लड़की हेमनलिनी और डॉक्टर नलीनाक्ष के विवाह के प्रस्ताव को लेकर चलती है। हेमनलिनी की नियति यह है कि वह रमेश और नलिनाक्ष के द्वंद्व में फँसकर रह जाती है। कालांतर में रमेश के प्रयासों से यह पता चलता है कि नलिनाक्ष ही कमला का पति है। कमला के विवाह की पहेली नलिनाक्ष की पहचान से सुलझ जाती है। हेमनलिनी का जीवन बिना किसी निर्दिष्ट अंत के शेष रह जाता है। कमला जो कभी रमेश के पास रह चुकी थी, वह अंतत: विधि के विधान से नलिनाक्ष को ही अपने बिछुड़े जीवन साथी के रूप में पा जाती है। कमला और नलिनाक्ष के संयोग को साकार करने में रमेश का जीवन समर्पित हो जाता है।

स्पष्ट है कि इस कहानी में कई संयोग और दुर्योग एक साथ चलते हैं लेकिन उसकी विश्वसनीयता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस कहानी का भौगोलिक परिवेश अति विस्तृत है। सुदूर पद्मा नदी के तट पर बसे गांवों से लेकर कलकत्ता, फिर गाजीपुर और इलाहाबाद जैसे स्थानों में घटित कहानी के अंश पाठक को स्थानीयता का आभास कराते हैं। कमला और रमेश के अंतर्द्वंद्व का चित्रण रवीन्द्रनाथ ने बहुत ही सूक्ष्म धरातल पर किया है जो कि इस उपन्यास को चिंतनप्रधान बनाता है।

फिल्म के रूप में भी यह उपन्यास उतना ही प्रभावशाली और मार्मिक बन पड़ा है। यह उपन्यास 1946-47 में नितिन बोस के निर्देशन में बांग्ला और हिंदी दोनों भाषाओं में निर्मित हुई और यह आज तक इसकी गणना
बहुप्रशंसित फिल्मों में होती है। इस उपन्यास पर थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अन्य भारतीय भाषाओं में भी फिल्में निर्मित हुईं जिसे अपार लोकप्रियता प्राप्त हुई। हिंदी में रमेश की संजीदा भूमिका को ट्रेजिडी किंग दिलीप

ISSN 2454-7131

कुमार ने निभाया। अन्य अभिनेताओं में मीरा मिश्रा (कमला), रंजना (हेमनिलिनी), अन्नदा (मोनी चटर्जी), नलीनाक्ष (एस नज़ीर), अक्षय (पहाड़ी सनयाल), ब्रज मोहन (के पी मुखर्जी) प्रमुख हैं।

रवीन्द्रनाथ टैगोर के कथा साहित्य का फिल्मी रूपान्तरण :

बांग्ला फिल्में :

	उपन्यास	सिनेमा	निर्माण वर्ष	निर्माता/निर्देशक
1	नातिर पूजा	नातिर पूजा	1932	रवीन्द्रनाथ टैगोर (टैगोर द्वारा निर्देशित एक मात्र फिल्म)
2	नौका डूबि	नौकाडूबि	1947	नितिन बोस
3	काबुलीवाला	काबुलीवाला	1957	तपन सिन्हा
4	क्षुधिता पाषाण	क्षुधिता पाषाण	1960	तपन सिन्हा
5	तीन कन्या	तीन कन्या	1961	सत्यजित रे
6	चारुलता	नष्ट नीड़	1964	सत्यजित रे
7	घरे बाइरे	घरे बाइरे	1985	सत्यजित रे
8	चोखेर बालि	चोखेर बालि	2003	ऋतुपर्णो घोष
9	षष्टि	षष्टि	2004	चाशि नज़रुल इस्लाम
10	शुवा	शुवाशिनी	2006	चाशी नज़रुल इस्लाम
11	चतुरंगा	चतुरंगा	2008	सुमन मुखोपाध्याय
12	एलार चार अध्याय	चार अध्याय	2012	बाप्पादित्या बंद्योपाध्याय

हिंदी में निर्मित फिल्में :

	उपन्यास/कहानी	सिनेमा	निर्माण वर्ष	निर्माता/निर्देशक
1	बलिदान	सेक्रिफ़ाइस	1927	ननन्द भोजाई और नवल गांधी
2	नौका डूबि	मिलन	1947	नितिन बोस
3	काबुलीवाला	काबुलीवाला	1961	विमल रॉय/हेमेन गुप्ता
4	डाक घर	डाक घर	1965	जुल वेल्लनी
5	समाप्ति	उपहार	1971	सुधेंदु रॉय
6	क्षुधित पाषाण	लेकिन	1991	गुलज़ार
7	चार अध्याय	चार अध्याय	1997	कुमार शाहनी
8	चोखेरबालि	चोखेरबालि	2003	ऋतुपर्णो घोष
9	कशमकश	नौका डूबि	2011	ऋतुपर्णो घोष

ISSN 2454-7131

साहित्य का फिल्मों में माध्यमांतरण जब बिना किसी फेर बदल अथवा तोड़ मरोड़ के किया जाता है तभी उस कृति की मूल संवेदना तथा लेखक का आशय समाज को प्राप्त होता है। साहित्यिक कृतियों की मूल कथा वस्तु को अपने व्यापारिक एवं व्यासायिक हितों के लिए जब इस्तेमाल किया जाता है तब साहित्यिक मूल्यों की क्षति होती है। साठ के दशक और उससे पूर्व फिल्म निर्माता और निर्देशक फिल्म निर्माण के लिए साहित्यिक कृतियों के चयन में बहुत सतर्क रहा करते थे। फ़िल्मकारों के लिए सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति लोगों में विशेष चेतना प्रसारित करने का लक्ष्य सर्वोपरि हुआ करता था। वर्तमान दौर की फिल्मों ने व्यावसायिक हितों को साधने के लिए साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को दरकिनार कर दिया। कुछ अपवादों को छोड़कर, बाजार के दबाव ने साहित्य के शिल्प सौन्दर्य को नष्टभ्रष्ट कर दिया और फ़िल्मकार इन मूल्यों से विमुख होते चले गए। भूमंडलीकरण के दौर में व्यावसायिक सिनेमा का साहित्य से जैसे कोई सरोकार ही नहीं रहा।

और अंत में ....

रवीन्द्रनाथ टैगोर समर्पित भाव से अहर्निश, आजीवन रचनारत रहे। अपने समय और समाज को संबोधित करते हुए और आने वाले समय की पदचाप से सबको परिचित कराने वाले इस महामनीषी को यह अहसास था कि वह जो कुछ और जितना कुछ दे पाए, उससे कहीं अधिक देना तो शेष रह गया। जिसे अपनी अपूर्णता का निरंतर बोध हो वही अहंकारशून्य कवि साधक यह लिख सकता है –

" गावार मतन हय नि कोनो गान
देवार मतन हय नि किछु दान"।

अर्थात – "गाने लायक रचा न कोई गान
देने लायक बचा न कोई दान"।

(लेखक उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद के सेवानिवृत्त प्रोफ़ेसर हैं।)

मराठी रेखाचित्र

चितले मास्टर

लेखक- पु. ल. देशपांडे

अनुवादक- डॉ. विजय कलमधार

पुरूषोत्तम लक्ष्मण देशपांडे (1919-2000) का मराठी साहित्य तथा आधुनिक मराठी व्यंग्य को स्थापित करने में बहुत बड़ा योगदान है। महाराष्ट्र में 'पु. ल.' आद्याक्षरों से सुपरिचित पु. ल. देशपांडे एक सफल नाटककार, कथाकार, हास्य-व्यंग्यकार के रूप में विख्यात है। महाराष्ट्र के इस लाड़ले व्यक्तित्व ने साहित्य, संस्कृति, सिनेमा, एकांकी, संगीत आदि सभी विषयों पर अधिकारपूर्वक लिखा है। पु. ल. के नाटक आज भी मराठी और गुजराती रंगमंच पर छाए रहते हैं। पु. ल. देशपांडे हास्य के कोलाहल में आँसुओं को भी आहिस्ता स्पर्श करते हैं। उनके व्यंग्य-विनोद में मानव जीवन की त्रुटियों के साथ करूणा की भी संवेदना निहित है। इसलिए हास्य और आँसुओं के संगम के फलस्वरूप उनके कृतियों को साहित्य में उच्च कोटि का स्थान प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत रचना उनके प्रसिद्ध रेखाचित्र संग्रह 'व्यक्ति आणि वल्ली' (1966) से ली गई है, जो शिक्षकीय पेशे के उच्च मानदंड़ों में समयातंराल में आई निरंतर गिरावट और पीढ़ियों के परिवर्तन से उपजे नये मूल्यों को पूर्ण संवेदनशीलता के साथ दर्शाती है।

....

एक जमाने में हमारे गाँव में बच्चे को कक्षा में ले जाकर बिठा दिया कि वह बच्चा मैट्रिक पास या फेल होने तक माँ-बाप उसके बारे में बहुत ज्यादा सोचा नहीं करते थे। ''लड़के को चितले मास्टर के हवाले किया है, वह उनके पास सुरक्षित है।'' ऐसा पक्का भरोसा होता था। 'एक जमाने में' ऐसा कहना ही ठीक रहेगा क्योंकि अब गाँव बदल गया है। दरअसल गोपाल कृष्ण गोखले की स्मृति में गाँव वालों ने स्कूल खोला था। परंतु पालने का नाम सदानंद या इस जैसा ही कुछ हो और बोलचाल में बंडु या बापु के नाम से पहचाना जाने लगे, ऐसी हमारे स्कूल की हालत है। उसे कोई गोखले हायस्कूल नहीं कहता। चितले मास्टर का स्कूल यही उसका प्रचलित नाम है। चितले मास्टर स्कूल के संस्थापक नहीं थे और न ही स्कूल प्रबंधन में थे। जब मैं अंग्रेजी तीसरी कक्षा में था तब उन्हें सौभाग्य से प्रिंसिपल बनना पड़ा था, पर पन्द्रह दिनों में ही मास्टर उस कुर्सी से परेशान होकर फिर से अपने 'चितले मास्टर' बन गए। उनसे आयु में बहुत छोटे काले मास्टर प्रिंसिपल बने और अभी भी है।

बायें हाथ में धोती, नीले रंग का आभास कराता खादी का कुर्ता, सिर में उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम दिशा दर्शाती काली टोपी, टोपी के बाहर टकले के आस-पास टिके हुए बाल, नाक और मूंछ का रखरखाव राम गणेश गडकरी जैसा, पैर की चप्पलें यदि पहले दिन स्कूल में न भूले हों तो पैर में होगी, बायां हाथ धोती पकड़ने में व्यस्त होने के कारण दायें हाथ की किताबें दायें कंधे पर और किताबें हाथ में होने पर दायें हाथ की तर्जनी कंधे के बाजू में कर जिस तरह हम एक इस अंक को दिखाकर इठलाते हैं, उसी तरह इठलाकर चितले मास्टर ने अपने घर से स्कूल तक का लंबा-चौड़ा रास्ता पिछले तीस वर्ष नापा है।

उन्होंने मुझे पढ़ाया, मेरे चाचा को पढ़ाया और अब मेरे भतीजों को भी पढ़ा रहे हैं। हमारे गाँव के शंकर जी के मंदिर का धर्मलिंग गुरव और चितले मास्टर इन दोनों पर एक ही पंक्ति लागू होती है- नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः! उन्होंने पहला विश्वयुद्ध देखा, दूसरा देखा और अब संभवतः तीसरा भी देखेंगे। आज भी जब मैं गाँव जाता हूँ तो शंकर जी के मंदिर जरूर जाता हूँ और वहाँ का धर्मलिंग गुरव ''पुर्श्या, रहोगे चार दिन या फिर वापस भागने की जल्दी है? ऐसा कहकर मेरा स्वागत करता है। मुझे 'पुर्श्या' कहकर पुकारने वाले दूसरे व्यक्ति मतलब चितले मास्टर! धर्मलिंग का केवल पुर्श्या कहने से काम नहीं चलता। वह मुझे ही बुला रहा है और ये मुझे पता नहीं चलेगा शायद यही सोचकर वह मुझे 'पुर्श्या पुकारता होगा। कुछ सालों पहले गाँव वालों ने मैं विदेश जाकर आया इसलिए मेरा सम्मान किया था। समारोह खत्म होने के बाद धर्मलिंग गुरव लालटेन ऊपर उठाता हुआ मेरे पास आया और बोला, ''पुर्श्या, इंग्लैड जाकर हवा भरली क्या शरीर में। कुप्पा हो गए हो! धर्मलिंग की इस टिप्पणी से गाँव की नई पीढ़ी कुछ बेचैन-सी हुई। चितले मास्टर मेरी पीठ ठोंककर बोले थे, ''पुर्श्या स्कूल के नाम को रोशन किया है तुमने! वेस्टमिन्स्टर ब्रिज भोर के समय जाकर देखा क्या? वर्ड्सवर्थ की कविता याद है न?

अर्थ हैज नाॅट एनीथिंग टू शो मोर फेअर..........

डल वुड ही बी आॅफ सोल हू कुड पास बाय.......

ए साइट सो टचिंग इन इट्स..........?

''मैजेस्टी' मैंने स्कूल की पुरानी आदत को याद करते हुए कहा।

''मैजेस्टी.....! बिल्कुल ठीक। चितले मास्टर की यह आदत अभी तक कायम है। वे वाक्य का आखिरी शब्द बच्चों से बुलवाते थे। मुझे उनकी अंग्रेजी की कक्षा याद आई।

''.....टेक हर अप टेंडरली, लिफ्ट हर विद केअर........फेशन्ड सो स्लेंडरली यंग एण्ड सो........?

''फेअर'' सारे लड़के सुर में चिल्लातें।

अंग्रेजी पहली कक्षा से मैट्रीक तक सात वर्ष चितले मास्टर ने मुझे अनेक विषय पढ़ाये। उनका मुख्य विषय अंग्रेजी था। पर ड्राइंग और ड्रिल छोड़कर वे कोई भी विषय पढ़ाते थे। पर कालखंड की घंटी और समय सारणी इन दो बातों में उनका कभी मेल नहीं हुआ। उस जमाने में हर विषय के लिए अलग शिक्षक जैसी सुविधा हमारा हाईस्कूल उठाने में सक्षम नहीं था। आठ-दस शिक्षक सारा स्कूल संभालते थे। अब स्कूल बारिश के दिनों में फैली हुई नदी की तरह फैला हुआ है। भव्य भवन, एक-एक कक्षा के आठ-आठ प्रवर्ग, सुबह की शिफ्ट, दोपहर की शिफ्ट, दो-दो हजार विद्यार्थी, इस तरह का कुछ मेरे बचपन में नहीं था। आजकल छात्रों को षिक्षकों के नाम पता नहीं होते। मेरे शिक्षकों को सारे बच्चों के पूरे नाम याद होते थे। पैर में चप्पल पहनकर आने वाला लड़का केवल गाँव के जमींदार का या डाक्टर का होता था। मैट्रीक तक लड़कों ने और चितले मास्टर जैसे मास्टरों ने भी स्कूल का रास्ता नंगे पैर ही तय किया था। स्कूल के सबसे होशियार और सबसे मूढ़ बच्चों को मास्टर घर में बुलाकर मुफ्त में पढ़ाते थे। ''कुमार अशोक गणित में अच्छी प्रगति नहीं कर रहा है, उसे स्पेषल ट्यूशन करवानी पड़ेगी'' ऐसे पत्र पालकों को नहीं आते थे। बच्चे का फेल होना मतलब मास्टर के 'माथे पर तोहमत' ऐसी शिक्षकों की सोच थी। 'छड़ी' स्कूल में श्यामपट्ट और चाक की भाँती आवश्यक वस्तु होती थी।

पर चितले मास्टर ने अपने तीस-बत्तीस वर्षों के अध्यापन काल में छड़ी कभी प्रयोग में नहीं लायी होगी। उनके जीभ का घुमाव ही इतना तिरछा होता था कि वह मार ही काफी होती थी। बहुत गुस्से में आये तो अंगूठे से लड़कों के कंधे दबाते थे।

शाम को स्कूल छुटने के बाद चितले मास्टर का रूप देखते ही बनता था। श्यामपट्ट के चाक की धूल उड़-उड़ कर ऐसे लगती मानों वे आटा चक्की पर नौकरी करते हो। इसके बावजूद पढ़ाना खत्म नहीं होता था। शाम को उनके शब्दों में कहा जाये, तो पिछड़े वर्गों की कक्षायें चलती थी।

चितले मास्टर का कक्षा में प्रयोग किया जाने वाला शब्दकोश बिल्कुल अलग था। पहला कालखंड अंग्रेजी का है ये सोचकर हम नेल्सन साहब या तरखेड़कर जी की पुस्तक खोलकर तैयार रहते तो मास्टर जी दुनिया का नक्षा बंदुक जैसा कंधे पर लेकर प्रवेष करते। फिर कक्षा में ठहाके लगते। मास्टर जी ''अभ्यंकर, आपटे, बागवे, चित्रे'' कहते हुए हाजिरी लेना शुरू करते। इतने में स्कूल की घंटी जितना ही पुराना घंटी बजाने वाला दामु चपरासी पृथ्वी का ग्लोब लाकर टेबल पर रखता था। चितले मास्टर उसे वह सारी पृथ्वी हाथ में उठाता है इसलिए

'हर्क्युलस' कहते थे। हाजिरी खत्म होने के बाद पहले मेज पर बैठे किसी स्कालर लड़के को मास्टर पुछते, ''हे बृहस्पति, पिछले कालखंड़ में हम कहाँ थे।''

''सर, अंग्रेजी का कालखंड़ है''

''ए? फिर भूगोल का कालखंड़ कब है?''

''तीसरा''

फिर तीसरे कालखंड़ में तरखेडकर का श्राध्द करते हैं। भूगोल की पुस्तकें निकालिए।'' ये किताबे निकालने का कोई फायदा नहीं था। क्योंकि चितले मास्टर ने पुस्तक को आधार बनाकर कभी कुछ नहीं पढ़ाया। भूगोल हो, इतिहास हो, अंग्रेजी हो, या गणित हो, ''कौन सा कालखंड़ है? इस प्रश्न पर ''चितले मास्टर का'' यही सही उत्तर होता था। सर्वसम्मति से कोई विषय तय होता और मास्टर रंग में आना शुरू करते। जीवन भर उन्होंने अनेक विषय पढ़ाये, पर कुछ बातें उन्हें कभी नहीं बनी। उदाहरण के लिए हिन्दुस्तान का नक्षा। पाँच दस मिनट बोर्ड पर चाक इधर से उधर घुमाने पर हिन्दुस्तान का अजीब नक्शा तैयार होता!

''हिन्दुस्तान देश कुछ-कुछ दक्षिण अमेरिका की तरह बन गया क्या? खुद ही मजाकिया अंदाज में पूछते। कंधे पर लाया नक्शे का बंडल शायद ही कभी खोलते थे।

''हां, पांडु, जरा ठीक से बनाओं तुम्हारें मातृभूमि का नक्शा......''

फिर हमारी कक्षा के ड्राइंग में कुशल पांडु घरत चितले मास्टर की मातृभूमि को पोंछकर सुंदर नक्षा बनाता।

''भगवान किसकी उंगलियों में क्या रखता है देखो, हाँ! पांडुअण्णा, अब बताइये, मानसूनी हवाएँ कहाँ से चलती है?''

पांडूअण्णा की विकेट गिरी हुई होती!

एक बार जमीनी हवाएँ और समुद्री हवाएँ पढ़ा रहे थे।

''हं, गोदाक्का, बताइये, अब हवा किस दिशा में बह रही है?''

कक्षा की लड़कियों को मिस जोषी, मिस साठे बुलाने वाले मास्टर अभी तक स्कूल में नहीं आए थे। टाई बाधकर मिस जोषी वोषी बुलाने वाले देशमुख मास्टर पहली बार स्कूल आये तब साहब का पिल्लु स्कूल में किसने लाकर

छोड़ा है ऐसा हमें लगा था। पैर में सफेद टेनिस शुज पहने पंख निकली मुर्गी के समान लंबे गले के देशमुख मास्टर हमारे स्कूल के अपटुडेटपन की चरम सीमा थी। बाकी सब धोती छाप मास्टर लड़कों को बंड्या, येष्या, बाल्या, पुष्र्या इन नामों से या लड़कियों को कुसम, छबी, शांता, कमला इन्हीं नामों से पुकारते थे। चितले मास्टर मूढ़ विद्यार्थियों को अत्यंत सम्मान से पुकारते थे। गोदी गुलवणी साक्षात् मूढ़ थी। गोरी, कजरारी आँखों वाली, भरे हुए बोरे की तरह मोटू गोदी चैथी-पाँचवी तक जैसे-तैसे स्कूल में टिकी। अंत में अण्णा गुलवणे ने उसकी शादी रचा दी। उसके विवाह में चितले मास्टर ने दुल्हे को भरी पंगत में बताया ''मेरी विद्यार्थी है यह! गृहस्थी अच्छे से संभालेगी। पर बाजार में पैसे देकर खरीदारी को मत भेज देना। बारह आने दर्जन भाव के आधा दर्जन आम चैदह आने देकर लायेगी! क्यों गोदाक्का?'' मूढ़ गोदी ने भी ससुराल जाते समय अपने पिता के पैर छूने के बाद चितले मास्टर के पैर पर सिर रखकर नमस्कार किया था। ''क्या जमाई राजा, अष्टपुत्रा कहु या इष्टपुत्रा? चितले मास्टर रूंधे हुए गले को छुपाते हुए बोले थे। गोदी पड़ाव में चढ़ी तब उन्हें धीरे से आँख पोछते हुए मैंने और बालू परांजपे ने देखा था।

''देख मास्टर रो रहे हैं!'' बालू ने शरारती लहजे में कहा था।

''चिड़ियों की तरह दस बारह साल आंगन मे फूदकती है और फुर्र से उड़ जाती है-'' चितले मास्टर गोदी के पिता से बतिया रहे थे। इसी गोदी को गोदाक्का कहकर चितले मास्टर ने इतनी ठट्ठा की थी कि आज के जमाने में होता तो पालकों की प्रिंसिपल साहब को चिट्ठी आ गई होती। चिठ्ठी तो छोडिएँ, पर हमारे पालक तो स्कूल में मास्टरजी ने अपने कुलदीपक की पिटाई कर दी, यह सुनकर घर में फिर से एक बार उत्तरपूजा करते थे।

''हं, गोदाक्का, बताइये हवा किस दिशा में बह रही है?

''गोदाक्का, हवा किस दिषा में बह रही है? गोदी शंकू बनिए के दुकान के बोरे की भाँती मेज पर जमी हुई थी।

''छोरी, जरा जड़ हिला के खड़ी तो रहो। ऐसे!'' मैट्रिक तक की लड़कियों को भी 'जड़' हिला के खड़ी रहों, ऐसा बोलने में कुछ गैर है, ऐसा चितले मास्टर को नहीं लगता था और सामने बैठे षिष्यों को भी कुछ नहीं लगता था। फिर गोदी निचला होंठ आगे लाकर शुंभ की तरह खड़ी रहती।

''हां, बताइये, अब कौनसी हवाएँ बह रही है? मास्टर जी ने पूछा। गोदी चुप।

''गोदू दीदी, तुम्हारा पल्लु किस दिशा मे उड़ रहा है? पर्वत की ओर या समुद्र की ओर? रामू तू बता।''

फिर गोगटे के रामु ने बिना दिक्कत गोदी को कहा था ‘‘ऐ गोदे, सीधी खड़ी रहो ना..’’

‘‘क्यों रे रामु? मास्टर जी ने डाँटा था।

‘‘फिर हमें उसका पल्लु ठीक से दिखेगा कैसे?’’

‘‘उसका पल्लु क्यों दिखना चाहिए’’?

‘‘फिर हवा पर्वत की ओर या समुद्र की ओर बह रही है, कैसे पता चलेगा?

‘‘ भोंदु, अरे परीक्षा में क्या गोदी को खड़ा करेगा? अरे, दिन में बहते हैं वे लैड विंड्स और रात में बहते है वो सी विंड्स?

फिर सारी कक्षा से ‘‘दिन में बहते हैं व़े........इस तर्ज पर पाँच-पच्चीस बार तोता रटंत करवाते थे। और फिर गोदी के पल्लु और लैंड विड्स का संबंध.....?

न ही! लड़के चिल्लाते।

रटंत पध्दति और मुखाग्र याद रखना इन विषयों पर चितले मास्टर का पक्का विश्वास था। अंग्रेजी डायरेक्ट मेथड से सीखने की पध्दति अभी-अभी आई ही थी। कक्षा में एक युवा स्कूल इन्स्पेक्टर आये थे। उन्होंने उस तरह का लेसन पढ़ाकर दिखाया था। मुझे अभी भी वह दिन याद है। पिछले बेंच पर विद्यार्थियों की तरह चितले मास्टर बैठे थे। और उस इन्स्पेक्टर की, पिछले बेंच पर बैठे बच्चे जैसी मास्टरजी की हलके आवाज में ठट्टा करते, उसी तरह ठट्टा कर रहे थे। कालखंड़ घंटी बजने से पहले ही खत्म हुआ और दरवाजे के पास उस इन्स्पेक्टर और चितले मास्टर का संवाद चल रहा था।

‘‘आपकी वह बाप-दादाओं की मेथड बदलनी चाहिए अब! कक्षा कैसे हंसते-खेलते चलनी चाहिए-’’

मास्टरजी ने अपनी उत्तर पूर्व और दक्षिण पश्चिम टोपी नाक के सीरे पर लाकर मजाकिया अंदाज में हमारी ओर देखा। ‘हमने खीखी कर किताबों में मुँह छिपाया। इतने में कालखंड़ की घंटी बजी। आधी छुट्टी का प्रचंड शोर शुरू हुआ।

‘‘आपके बच्चे बहुत दंगा करते हैं’’। इन्स्पेक्टर अपने भाषण में बाधा आती देख बोले थे।

''आज आप आए हैं, ये पता है उन्हें इसलिए कम है। नहीं तो स्कूल की छत सर पर उठा लेते हैं।'' चितले मास्टर शांति से उन्हें बता रहे थे।

''पर जरा अनुशासन सिखाना चाहिए।'' हँसते-खेलते शिक्षा देने के हिमायती इन्स्पेक्टर ने उन्हें गंभीरतापूर्वक ताकीद दी।

चितले मास्टर ने अपने सारे जीवन में किसी को अनुशासन का पाठ पढ़ाने की कोशिश नहीं की थी। खुद को भी नहीं पढ़ाया। उन्होंने उनके सामने आये सब पर केवल प्रेम किया। प्रेमल शब्दों के प्रयोग के बिना प्रेम किया। कक्षा में किसी लड़के ने उत्तम निबंध लिखा तो दस में से आठ नंबर देते थे। लड़का झल्लाता तो पुछते थे, 'क्यों रे बाबा?'

''सर, पर दो नंबर क्यों काट लिए।''

''तीन काटने की मेरे जान पर आई थी।''

अंग्रेजी भाषा पर चितले मास्टर का अगाध प्रेम था। उच्चारण अत्यंत देसी। पढ़ाने की पद्धति बिल्कुल संस्कृत पाठषाला की तरह।

पहली-दूसरी कक्षा के सामने से जाने वाले को अंदर अंग्रेजी चल रहा है या बच्चे 'ज्ञानेष्वरी' की ओवी रट रहे हैं, ये समझ में नहीं आता था। आज तक मुझे उनकी 'आई?' 'गो!', 'यु?' 'गो!', 'वी?' 'गो!', 'ही?' 'गोज!' की चाल याद आती है। अंग्रेजी साभिनय पढ़ाते थे। ''आई एम?'' प्रष्न पुछते और हवा में ही हाथ मुँह की ओर लाते और बच्चे ''इटिंग'' बोलते। फिर सरपट चलकर ''आई एम......?'' और बच्चे ''वाकिंग'' चिल्लाते। फिर कुर्सी पर सिर रखकर आँखे बंद कर लेते और कहते, ''आई एम....?'' ''स्लीपिंग'' ऐसी बच्चों की गर्जना से नींद में जागकर भौचक्का होकर उठते, ''गधों, मुझे नींद से जगा दिया।'' कहते और फिर से वही पोज लेकर धीमे सुर में बोलते, ''आई एम......?'' फिर सभी बच्चे दबे हुए सुर में बोलते, ''स्ली पिंग।'' 'आई एम स्लीपिंग' बोलते समय कुर्सी पर सिर रखते हुए उनकी टोपी कुर्सी के पीछे गिरती। बच्चे घुटी हुई हँसी हँसते। चितले मास्टर को यह ध्यान में आते ही ''मुकुट गिर गया क्या हमारा?'' कहकर टोपी उठाकर सिर पर चढ़ाते। ऐसा जी लगाकर पढ़ाने वाले षिक्षक बाद में हमें नहीं मिले। ''आई एम क्रालिंग के समय'' हूबहू छोटे बच्चे की तरह घुटने पर रेंगतें या कक्षा के किसी बच्चे को रेंगने लगाते। चितले मास्टर का कालखंड जिस कक्षा में चलता

वहाँ इतनी धिंगामुश्ती चलती कि बहुत बार बगल की कक्षा का कोई मालिक है कि नहीं ऐसा लगता.......उनके कालखंड़ में घंटी कब बज गई पता नहीं चलता। अगले कालखंड़ के मास्टर दरवाजे पर राह तकते खड़े रहते।

स्कूल के सभी मास्टर चितले मास्टर की आदतों से वाकिफ थे। इस कारण एक कक्षा को खत्म कर दूसरे कक्षा की किताबें और कापियाँ इकट्ठा करके चितले मास्टर कॉमन रूम में आकर पहुँचने तक उस कक्षा की लाइन क्लियर नहीं हुई है, वे जानते थे। चितले मास्टर बहुत भुलक्कड़ थे। कक्षा में चप्पले भुलना उनका नित्यक्रम! फिर छात्रों में से कोई वह अगले कक्षा में पहुँचाता। ''अरे, भरत ने चौदह वर्ष संभाली तुम्हें घंटे भर भी संभाली नहीं जाती?''

साथी शिक्षक उनकी खूब ठट्टा करते रहे होंगे। शैक्षणिक भ्रमण के समय यह ध्यान में आता था। चितले मास्टर को भ्रमण का भारी शौक। सिंधुदुर्ग, विजयदुर्ग वगैरह किले हमने उनके साथ देखे। पहली में गाँव के बाहर अमराई से शुरूवात होती थी। चितले मास्टर हमारे स्काउट मास्टर भी थे। स्काउट मास्टर की वर्दी में उनको अगर बेडेन पावेल ने देखा होता तो सारा स्काउट का आंदोलन समेट लिया होता। उस वक्त स्काउट मास्टर हरी पगड़ी बांधते थे। चितले मास्टर के सिर पर वह पगड़ी दादासाहब खापर्डे की पगड़ी की भाँती बोझा रखे जैसे लगती। गाँव के हरेक लड़के को उन्होंने तैरना सिखाया था। तैरना सिखाने की उनकी डायरेक्ट मेथड थी। मेंहदले साहुकार के विशाल कुएँ में शनिवार की दोपहर वे लड़कों को तैरना सिखाते थे। नौसिखिए लड़के को वे सीधे किनारे से धकेल देते। पीछे से धोती का काष्टा (कसाव) पकड़कर खुद कुदी लगाते। जो नियम लड़कों को वही नियम लड़कियों को भी। मेरे बचपन में गाँव में तैरना नहीं आने वाले लड़कों में शायद मारवाड़ी के या जमींदार के घर का ही होता। सात-आठ बार नाक-मुँह में पानी गया कि लड़के मेंढ़क की तरह तैरने लगते। तैरना होने के बाद सिर गिला रह गया तो वे खुद की धोती से पोंछते। हमारे गाँव के सभी माँ-बाप जैसे भगवान को बकरे की बली चढ़ाते है उसी तरह चितले मास्टर के हवाले लड़के कर निश्चिंत होते। स्कूल में ही नहीं, रास्ते में, मंदिर में भी लड़के के कान खींचने की उनको परमिशन थी।

मैट्रिक में पहुँचते ही चुनिंदा बच्चों को अच्छे नंबर हासिल करने के लिए चितले मास्टर के घर भोर के पाँच बजे जाना पड़ता था। मास्टर जी नहा-धोकर कोई स्तोत्र जोरों से बोलते हुए खड़े मिलते। एक पुराने से बंगलेनुमा घर में उनकी गृहस्थी थी। मास्टरनी को हम लड़के ही क्या पर स्वयं चितले मास्टर भी 'काकु' (चाची) ही बुलाते।

''काकु, बंदर आये हैं। खर्वस (नारीयल का पक्वान) देने वाली थी ना?'' ऐसा कहकर खिलाते-पिलाते। और फिर पढ़ाई शुरू होती। यह पढ़ाना बिल्कुल मुफ्त होता था। और पढ़ाने की शैली भी कक्षा से निराली। उस समय तक हमारे गाँव में बिजली नहीं पहुँची थी। मास्टर जी के घर का डिटमार का दिया और हम लोगों ने घर से लायी दो-चार लालटेनों की रोशनी में पढ़ाई शुरू होती थी। चितले मास्टर एक आड़ा पंचा (कपड़ा) शरीर पर रख खुले ही दिवार के पास संदूक पर बैठते थे। यह बड़ा सा संदूक उनका पसंदीदा आसन था।

इस संदूक में किताबें खचाखच भरी थी। मास्टर जी का गोपु मेरी कक्षा में था। वेणु मुझ से बड़ी और चिंतामणि छोटा। ये तीनों बच्चें गुणी निकले। गोपु मैट्रीक में दसवा मेरीट आया था। आजकल वह दिल्ली में बड़े पद पर आसीन है। वेणु भी बी. ए. हो गई। चिंतामणि ने मैट्रीक के बाद पढ़ाई छोड़ दी। उसे मास्टर जी ने चिपलुण में साईकल की दुकान खोल दी। उसे मास्टर जी एडीसन बुलाते थे। ये बच्चा छुटपन से ही कुछ न कुछ तोड़-मरोड़ करता था। गोपु हमारे साथ पढ़ने बैठता था। वह मास्टर जी को अप्पा बुलाता था। पढ़ने बैठा तो हमारे साथ 'सर' बुलाता था। हम चितले मास्टर की नकल करते थे उसी तरह वह भी करता था। उसका कक्षा में पहला नंबर आता था, पर मास्टरजी ने पार्षिलिटी की, ऐसा हमें भूल कर भी नहीं लगा। क्योंकि कक्षा में बाकी लड़कों की तरह उसे भी वे ''गोपालराव चितले, उठिये, उत्तर दीजिए'' इस तरह बात करते। कान पकड़कर खड़ा करते। बाकी लड़कों की तरह वह भी था!

भोर के उस धुंधले प्रकाष में चितले मास्टर के घर में लालटेन की रोशनी में चलने वाली वह स्पेशल क्लास आज भी मेरे सपनों में आती है। वहाँ मैंने 'रघुवंश' सीखा, टेनिसन, वर्ड्सवर्थ की कविताएँ पढ़ी। कक्षा में पढ़ाते समय उनकी आवाज चमत्कार पूर्ण लगती। भोर के समय वे रघुवंष पढा़ते तो खुमार सा चढ़ता। हम लोगो से पहले इसी कक्षा से निकले तीन-चार लड़कों ने जगन्नाथ शंकर सेठ स्कालरशिप पाई थी। हम लोगों में से कोई वैसा नहीं निकला। जरा दुखी होकर ही हम उन्हें पास होने की मिठाई देने गए थे।

''काकु, कुरूक्षेत्र के विजयी वीर आये हैं। गीले नारीयल की करंजी (एक मिठाई) बनाई है ना? एलफिन्स्टन कॉलेज में ही प्रवेश लेना, ठीक है ना! तुम्हारें पिताजी को बोल दिया है मैंने! किसी बेकार कॉलेज में नहीं। पुणे जाना है तो फर्ग्युसन कॉलेज! कौन से कॉलेज में?''

''एलफिन्स्टन''

''स्पेलिंग बताओं!''

ISSN 2454-7131

काकु करंजी सामने रखते हुए बोली थी ''ए जी, मुछों की कोर निकल आई है उनकी अब! स्पेलिंग क्या पूछतें हो? मुंबई जाओगे या पुणे?''

''देखते हैं, बाबा जहाँ भेजेंगे वहाँ जायेंगे।''

चितले मास्टर और अनगिनत बच्चों की राहें इसी तरह जुदा हुई थी। फिर कई साल मुलाकात नहीं होती। पर रोजमर्रा के कामों में उनकी याद बाकी है। ''पंक्ति में केवल आठ शब्द लिखना है'' यह उनका कथन रच-बस गया है। ''नौंवा शब्द पंक्ति में आया तो क्या लिखा है यह न पढ़कर कागज पर कद्दू का चित्र बनाऊंगा।'' यह धमकी वे सच करके दिखाते थे।

एक दिन सुबह मुंबई में मेरे दरवाजे पर घंटी बजी। हाथ में थैली लेकर दरवाजे पर चितले मास्टर खड़े! वही कोट, वही उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम टोपी, बायें हाथ में थैली और दाया हाथ उसी तरह तर्जनी ऊपर कर पकड़ा हुआ।

''मास्टर जी आप!'' मैंने आश्चर्य से पूछा।

''धन्य हो तेरी मुंबई!'' अंदर आते-आते मास्टर बोले।

''क्यों, क्या हुआ?'' श्रीमती जी ने उनके हाथ की थैली लेते हुए कहा।

''क्या होना है? हां, उस थैली में आम है। नहीं तो पटकोगी बावली की तरह।''

मेरी पत्नी भी उनकी छात्रा रही हैं। इसलिए हम दोनों को वे जो चाहे बोल सकते हैं। ''क्यों मुंबई ने क्या किया है आपका?''

''अरे, तुम पहले रहा करते थे वह जगह पता है मुझे! इस इलाके में कभी आना नहीं हुआ मेरा। मैं वरली में स्काउट की जंबुरी थी तब आया था। जंगल था सब! तेरी इमारत का कहीं पता ही न चलें! खैर तु लोकमान्य तिलक का बाप.......''

''मैं?''

''हां! मतलब विश्वविख्यात तु......मुझे लगा, सबको मालुम होगा तुम्हारा पता। नीचे पान वाले को भी पता नहीं तुम ऊपर रहते हो। मैंने कहा, 'अरे, नाटक में काम करते हैं वे.....विलायत जाकर आये हैं।' इस पर वह नकचढ़ा

ISSN 2454-7131

आदमी बोलता है, ‘‘साहब, आज कल भंगी भी जाकर आते हैं!’ ठीक ही है वह। हमे स्वयं पर नाज। औरों को क्यों हो? कम से कम तुम्हारें नाटक तो दिखाओं मुफ्त में सबकों ताकि पूछने वाले को जरा पता तो बताये इज्जत से!’’

‘‘कब आये?’’

‘‘आज पूरे दस दिन हुए हैं।’’

‘‘कहां ठहरे हैं, वेणु के यहाँ?

‘‘ना! वेणी के पति का तबादला हुआ है नासीक में। मैंने अपना जनु पानषे के यहाँ डाला है डेरा!’’

‘‘ जनु पानशे मतलब.........’’

‘‘दुध वाले पानषे का रे! तुम्हारे ही कक्षा में था न?......नहीं। वह अड़तीसवे बैच का। मुर्ख कहीं का। बाजीराव की शिखा अहमद शाह अब्दाली को चिपकाने वाला!’’

चितले मास्टर बदलने को तैयार नहीं थे। यह बाजीराव की शिखा अहमदशाह अब्दाली की चिपकाने वाला विनोद उनकी कक्षाओं की तीन पीढ़ियाँ सुनती चली आ रही है!

कुर्सी पर विराजमान हुये अभी पाँच मिनट भी नहीं हुए थे। इतने में उनकी नजर टी पाय पर पड़े सिगरेट के पाकेट पर गई।

‘‘लगता है सिगरेट पीते हो?’’

स्कूल छोड़ने को पच्चीस एक साल हो गए हैं। पर कभी मैंने चितले मास्टर के सामने सिगरेट नहीं पी थी।

‘‘हमारा गोपु भी पीता है। मेरे सामने नहीं पीता पर मुझे पता है। लाओं भाई तुम्हारी सिगरेट मैं भी पीकर देखता हूँ। गाँव में हिम्मत नहीं होती। साठ पार के चितले मास्टर बोल रहे थे। ‘‘तुम जरा अंदर जाओ तो’’ श्रीमती को बोले।

‘‘रहने दो मास्टर जी....ख्वामखाह खासोंगे।’’

‘‘ना कहते हो? बाकी ऐसी चैन उड़ाने की कभी फुर्सत ही नहीं मिली।’’

‘‘अच्छा मुंबई में किमर्थ आगमन?’’

‘‘भिक्षां देही! और क्या! स्कूल में ओपन एअर थिएटर बना रहा हूँ!

‘‘क्या बना रहे हैं?’’ मैंने अचंभित होकर कहा।

‘‘अचंभा क्यों भला इतना! नाटकवाला तु.....तुम अचंभित क्यों हो रहे हो? सरकार की ओर से आधी ग्रांट मिली है। आधे पैसे हम इकट्ठा कर रहे हैं। पिछले वर्ष नाटक प्रतियोगिता में स्कूल का पहला नंबर आया था जिले में!’’

‘‘अपने स्कूल का?’’

‘‘हां हां अपने स्कूल का! ‘बेबंदशाही’ किया था। झिलग्या पावशेकर के बेटे ने संभाजी का पार्ट इतना जबरदस्त किया था....थिएटर तालियों की कड़कड़ाहट से गुंज उठा था।’’

ये सब मेरे लिए नया था।

‘‘और ये नाटक-वाटक आप करने देते हो? हमने गैदरिंग में नाटक करने को बोला था तो आपने मुझे कक्षा से बाहर खड़ा कर दिया था।’’

‘‘पुष्पी ख्वामखाह ही तु। अरे, टाइम्स हैव चेंज्ड! आजकल अपनी सुबह की क्लास बंद। स्कूल तो सात बजे शुरू होता है। एक शिफ्ट सुबह दूसरी दोपहर। मशीन की तरह हो गया है। बावन मास्टर है। चंद्र सूर्य.......’’

‘चंद्र सूर्य ?’

‘‘एक ही आसमान में, पर एक उदय होता है तो दुसरा अस्त’’

‘‘ठीक है, ठीक है....अच्छा.. खाना खाकर ही जाइए।’’

‘‘ नहीं नहीं। नुरू काजी के यहाँ खाने का बुलावा है। अपने इस्माइल काजी का लड़का। चालीसवी बैच का। होशियार बच्चा। सचिवालय में है। एज्युकेशन मिनिस्ट्री में। उसी के कारण तो ओपन एअर थिएटर की ग्रांट मिली है। ये सारा वही देख रहा है। क्या इंग्लिश लिखता है! परसों एक मजेदार किस्सा बताया उसने। कोई अफसर तबादला होकर आया था। उसकी फाइल इसके पास आई थी। फाइल की नोटिंग में प्रत्येक पंक्ति में आठ शब्द! उसे सहसा कुछ सुझा। फोन किया। दोनों की आपस में कुछ पहचान नहीं थी। फोन पर पुछा, जोगलेकर बोल रहे हैं? वह बोला, हां! वह बोला काजी बोल रहा हूं। वह झट से यस सर बोला। अधीनस्थ है, पर ‘सर’ क्यों बोल रहे

ISSN 2454-7131

हो। काजी बोला, चितले मास्टर के शिष्य हो क्या? यह सुनकर जोगलेकर उस तरफ आठ इंच उड़ गया कुर्सी पर! कैसे पहचाना? उसने पूछा। तब काजी बोला फाइल की नोटिंग में एक पंक्ति में नौंवा शब्द लिखा था वह काटकर फिर से नीचे की पंक्ति में ज्यों का त्यों लिखा......अपने हरि जोगलेकर का बेटा। अड़तालीसवी बैच। इंग्लिश, मैथ्स, संस्कृत और फिजिक्स में डिस्टिंक्शन- बी.ए. में दूसरा आया था। वह भी है सचिवालय में, फायनान्स सेक्शन में।

''अभी काजी के यहाँ जायेंगे खाना खाने?''

''साफ बता दिया है.......मटन बिटन खाने में दिया तो तुम्हारे शिक्षा मंत्री को जाकर बताऊंगा तीसरी में भूगोल के पेपर में नकल की थी इसने! बात सच्ची है। होशियार बच्चों को भी मोह होता ही है।''

''अच्छा अब चाय लेंगे या कॉफ़ी?''

''तुम्हारी सहधर्मचारिणी जो दे देगी वह ले लूंगा। क्या दोगी? गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ.....काकु बहुत याद करती है तुम्हारी!''

''स्वास्थ्य अच्छा है उनका?''

''मोतियाबिंदु हो गया है। बाकी मास्टर के घर में पत्नी के गले में कभी मोती पड़े नही, आँखों में पड़ गये। गोपु बोला है ऑपरेशन करना है। अपना साने हो गया है आई स्पेशलिस्ट! पिछले दफे मिला था उसे! बहुत प्यारा लड़का है। क्या सुंदर हस्ताक्षर है उसके......कविता करता था.....अब आँखों के ऑपरेशन करता है।''

''अब तक कहाँ-कहाँ भिक्षांदेही हुआ है? और मास्टर जी स्कूल में नाटक के लिए थिएटर किसलिए?''

''शाबास नाटक वाला होकर इतना सनातनी? अरे, हमारा 'बेबंदषाही' देखा होता तो मेरी पीठ ठोंकी होती।''

''आपकी''

''क्यों, डायरेक्टर हूं ना मैं?''

मैं एक-एक अजीब ही सुन रहा था, ''आप और डायरेक्टर?''

''फिर तुम्हें क्या लगा तुम ही बन सकते हो? ऐसा रटाया था बच्चों से.....केवल अपना-अपना ही नहीं, सब को सारा नाटक याद! भोर के पाँच बजे अभ्यास करते थे। नाटक की रिहर्सल में संभाजी से लेकर औरंगजेब तक सब पाँच बजे हाजिर!''

''सभी से क्यों सारा नाटक याद करवा लिया?''

''बुद्धिमान हो! ऐन वक्त पर कोई हो जाये बीमार सर्दी-खांसी से तो सारा नाटक तो सो गया समझो। पर मुहुर्त देखकर नारियल तोड़ा था। मेरा नहीं विश्वास इन अंध श्रध्दाओं पर। पर बच्चे बोले मुहुर्त देखकर नारियल तोड़िए। बाकी मुझे इन बच्चों का कुछ समझ ही नहीं आ रहा है। कक्षा में आजकल कोई टोपी पहनकर आये तो कसम! जेब में लेखनी नहीं होती है। हर एक के बाल बनाने के तरीके देखिए! पर मुहुर्त देखते हैं। हाथ में किस-किस बाबाओं की अंगुठियाँ पहनते हैं। गले में लाकेट पहनते हैं। तैरने की कक्षायें वगैरह लिक्विडेशन में बह गई.......दिस इज रिअली पजलिंग! इस दुसरे विष्वयुद्ध के बाद कहिए या स्वतंत्रता के बाद बहुत कुछ गड़बड़झाला लगता है। गाँव में तुम्हारे भी समय सिनेमा था, पर तुम स्कूल छोड़कर नहीं जाते थे। अब आधे बच्चे थिएटर में! तुम्हें अचरज होगा, नया सिनेमा आया तो मैं भी जाता हूँ।''

''सिनेमा देखने?''

''सिनेमा देखने नहीं, इंटर्वल में''

मुझे लगा, साठ की उम्र में पहुँचे मास्टर जरा 'खिसके' तो नहीं। मैं अवाक होकर उनकी ओर देखने लगा।

''तंद्रा तोड़ो'' बहुत दिनों बाद चितले मास्टर के ये पसंदीदा वाक्य सुने। कक्षा में बच्चों को मुँह खोलकर बैठने की आदत होती है। मुर्खांे की तरह मुँह खोलकर बैठे बच्चों को मास्टर जी बोलते ''तंद्रा तोड़ो''।

''पर मास्टर जी इंटर्वल में सिनेमा जाते हो, ये कुछ पल्ले नहीं पड़ा''।

''नहीं पड़ेगा। पहले जाकर अंधेरे में खड़ा रहता हूँ। अपने षिर्के का थिएटर। मुझे टिकट नहीं लगता वहाँ। विद्यार्थी है वह मेरा बिल्कुल शुरू की बैच का। उससे इंटर्वल का फ्री पास लेकर रखा है। फिर क्या बता रहा था, अंधेरे में खड़ा रहता हूँ और उजाला हुआ तो झट से देखता हूँ दर्शकों में स्कूल के कितने छोकरे घुसे हैं। एकाध बार दिखा तो कोई बात नहीं। पर उसी सिनेमा को दूसरी बार देखने क्यों आए हो?

''फिजुल ही कहा जाये इसे तो......''

''तुम्हें नहीं समझेगा यह! फ्लोरेंस नाइटिंगेल का जमाना नहीं रहा अब। अब है मीना कुमारी, बीना रॉय...... कल को इतिहास की कक्षा में इन्हीं का चरित्र पढ़ाउंगा। चलता है। टाइम्स हॅव चेंज्ड जाने दो। मेरा मुख्य मुद्या भिक्षांदेही का है.....बोलों उसका क्या करोगे।''

''आप कितने दिन रहेंगे?''

''अगले सप्ताह स्कूल शुरू होगा। परसों तक रवाना होना चाहिए।''

''आज रात खाने पर आइये।''

''आजकल रात का खाना बंद!''

''मैं उपवास का बनाउंगी!''

''अरे, व्रत वगैरह बंद नहीं। जीवन में व्रत एक ही किया......लड़का कब्जे में आया कि उसे झांड़-पोंछकर दुनिया में भेज देना। पर रात में आऊंगा यहाँ।''

''जरूर आईये। पर रात में घर ढूंढ़ पायेंगे क्या?''

''हां, यह कठिन काम है! वास्तव में विल्सन का स्टुडंट हूं मैं। अरे, मेरे वक्त की चौपाटी मतलब चर्नी रोड की सीढियाँ धोकर जाती थी। सखुबाई के भोजनालय में खाना और मोहन बिल्डिंग में रहना। अब हर साल देखता हूँ कि मुंबई बदलती जा रही है। परसों पांच मिनट के लिए कालेज के अंदर घुमकर आया। अपने दो विद्यार्थी है विल्सन में...... हमारे समय एलफिन्स्टन के बजाय विल्सन सस्ता पड़ता था। मैकेंजी था प्रिन्सिपल! डिवोटेड आदमी। उनकी डिवोशन देखकर ही मैं शिक्षकीय पेशे में आया। वैसे एक महिने कलेक्टर कचहरी में नौकरी की मैंने......जेब में 'केसरी' मिल गया इसलिए मुझे निकाल दिया गया। इसलिए तो इस देशसेवा में प्रवेश किया! मुंबई छोड़ते समय मैकेंजी को मिलने गया था। उन्होंने पुछा, अब क्या करोगे? मैंने कहा मास्टरी। मुझे पीठ पर हाथ फेरकर ब्लेसिंग्ज दी थी उन्होंने। उस समय चौपाटी पर हमारा कालेज शानदार दिखता था। अब भव्य इमारत में छुप गया है कहीं। सामने की समंदर की लहरे बस पुराने जैसी है। बाकी एवरथींग हैज.......

''चेंज्ड'' मैंने और श्रीमती जी ने एक साथ कहा। दोनों को इसकी आदत थी।

''अच्छा मैं लेने आता हूँ आपकों कहाँ मिलेंगे शाम को?''

‘‘शाम को मैं जाने वाला हूँ, अपने.....अरे तुम्हारे ही बैच का वह....मुकुंद पाटणकर के यहाँ।’’

‘‘हिंदू कॉलोनी में?’’

‘‘यस ही इज डुइंग वेरी वेल! मोटर खरीद ली है। पिछले साल आया था तब खूब घुमाया था। वैसे मुंबई में मेरी पाँच-छह मोटरे है..’

चितले मास्टर का वह खिलखिलाकर हँसना अभी तक कायम हैं।

शाम को मैं मुकुंद के घर गया।

‘‘मास्टर जी आये हैं ना?

‘‘हां, अंदर है बेबी को कहानी सुना रहे हैं।’’

मझे एकदम याद आया। मुकुंद की पाँच-छह साल की लड़की पिछले साल भर से पोलियो ग्रस्त होकर बिस्तर पर पड़ी है। मैंने अंदर झांककर देखा। मास्टर जी उसे कहानी सुनाते हुए पूरे रंग में थे। किसी राजकुमार की कहानी थी। राजकुमार का विमान आसमान में उड़ा तब दोनों हाथ फैलाकर चितले मास्टर सारे कमरे में दौड़े थे। मैंने और मुकुंद ने एक दुसरे की तरफ देखा। मुकुंद की आँखों में पानी छलक आया था।

‘‘यहाँ जब से आये हैं रोज शाम को बेबी को एक कहानी सुनाकर जाते हैं।’’

मास्टर जी की कहानी समाप्त होते आई थी।

‘‘और इस तरह राजकुमार और राजकुमारी दोनों अत्यंत सुख से रहने.......?’’

‘‘लगे।’’ बेबी, मुकुंद और मैंने एक साथ कहा।

मास्टर जी और मैं टैक्सी में बैठे।

‘‘जरा रूकिए।’’

‘‘क्यों रे?’’ मास्टर जी बोले।

‘‘कुछ नहीं। पुरानी सेवा.......पैर में चप्पल नहीं है आपके।’’

ISSN 2454-7131

‘‘रह गई लगता है ऊपर। रहने दे। कल तो आना ही है।’’

‘‘रूकिए, मैं लाता हूँ ......’’

‘‘नहीं नहीं । पागल हो गए हो क्या?’’ मैं ऊपर गया। मुकुंद के दरवाजे पर चप्पलों के स्टैंड से मास्टर जी की चप्पलें खोजकर निकालना मुश्किल नहीं था........किसी और चप्पल के तलवे इतने घिसे हुए नहीं थे।

(अनुवादक हिन्दी विभाग,शासकीय महाविद्यालय,चांद, छिन्दवाड़ा (म. प्र.) में सहायक प्रोफ़ेसर हैं।)

ISSN 2454-7131

तूफ़ान

लेखक: Franz Hohler

अनुवादक: क्षिप्रा चतुर्वेदी

क्या तूफ़ान था! दो दिनों से अनवरत बर्फ़बारी हो रही थी और अब शाम होते-होते हवा चलनी शुरू हो गयी थी, जो चट्टानी दीवारों से घर पर टकरा रही थी, खिड़की की चिक को ज़ोर-ज़ोर से झकझोर रही थी और फिर कराहती थी मानो निरीह आत्माएं ऊपर खिंच कर चट्टानों से टकरा रही होंI

"यह क्या हो रहा है?" योरी ने कहा जो कि आरामकुर्सी पर लेटा हुआ था और अपना सूजा हुआ पांव हत्थे पर रखे हुए थाI

उसकी पत्नी उबलते हुए पानी का भगौना लिए उसके पास आयीI "पत्तागोभी की पुल्टिस" वह बोली, "इससे अवश्य फायदा होगाI"

उसने पत्ते पानी से निकाले, उन्हें योरी के पाँव पर रखा, उसके चारों ओर एक रूमाल लपेट दिया और फिर उस सबको एक इलास्टिक पट्टी से बाँध दियाI

योरी ने मुँह बनाया, बुदबुदाया: पत्तागोभी बहुत गर्म होगीI लीना बोली: पर तभी तो इसका फायदा होगाI शायद यह बेहतर होता कि वे उन्हें भी हेलिकॉप्टर की मदद से ले जाते जैसे कि वे मार्टिन और व्रेनी को ले गए थे और जैसे कि ब्रेंज़ को भीI अब ऊपर बस वे ही लोग बचे थेI

योरी का विचार था कि अगर ऐसे ही बर्फ़बारी होती रही तो वे शायद उन्हें कल ले जाएँI अभी वह किसी प्रकार का बदलाव नहीं चाहता था, खासतौर पर तब, जबकि उसे चलने में भी परेशानी हो रही थीI

लीना बोली, "यह बाहर जाने के लिया उपयुक्त कारण होगाI अगर उसकी तबियत बिगड़ी तो डॉक्टर को बुलाना भी संभव नहीं हो सकेगाI'

उसे हमेशा इतना उदास नहीं होना चाहिए, योरी ने कहा I क्या वह उसे कुछ दिलचस्प बातें नहीं कर सकती?

लीना मुस्कराईI वे लोग तो लेंग्गेन्होफ़ से पिछले हफ्ते ही जा चुके होते, क्योंकि वे बहुत ही पास, ब्रेत्तेरेन्लौइज़ुग पर थे और अगले दिन दस वर्षीय ओलिवर स्कूल जाताI एक बार जब उसकी टीचर ने उससे कहा था कि बच्चे गणित की कॉपी निकालें तो ओलिवर के पास नहीं थीI जब टीचर ने उससे पूछा कि उसके पास कॉपी क्यों नहीं

ISSN 2454-7131

थी तो पता है ओलिवर ने क्या उत्तर दिया? हेलिकॉप्टर के पायलट ने कहा था कि वे सिर्फ ज़रूरी चीज़ें ही साथ में लेंI

योरी हँसा, फिर कुछ देर दोनों कुछ नहीं बोलेI तूफ़ान की साँय-साँय बढ़ती जा रही थीI वह घाटी से ऊपर की ओर बढ़ती हुई मालूम दे रही थीI

“और हम लोग अब भी यहीं हैं,” लीना बोलीI “वैसे अगर वे हमें लेने आए तो सामान मैंने सब बाँध रखा हैI”

“क्या तुमने मेरी गणित कि किताब रख ली है?” योरी ने पूछाI

लीना हंसी, फिर वह गंभीर हो गयीI “सिर्फ प्रार्थना की किताबI”

फिर वे कुछ नहीं बोले और बाहर कान लगाकर सुनने लगेI

साँय-साँय रह-रह कर बढ़ती जा रही थीI

“ज़रा रेडियो चालू कर दो” योरी बोला, अभी मौसम का हाल आएगाI

उसकी पत्नी दराजोंवाली अलमारी की ओर गई जिस पर फ्रेम में जड़े शादी के फोटो के अलावा एक पेट्रोल वाला लैंप, पत्थर में जड़ी हुई एक मेज़घड़ी जिस पर दो ऐल्प्स पर्वतों की पहाड़ी बकरियाँ थीं, ब्लैक फ़ॉरेस्ट में बने ओतिलिएन चर्च का एक लघु चित्र और एक नक्काशीदार सांचे में प्रभामंडल में डोलोरोसा और एक पॉकेट रेडियो था जिसके ऊपर, सबसे पहले रंगीन, फिर पीले, या भूरे, सभी रिश्तेदार और पूर्वज उसके पूरे परिवार के सभी सदस्य वहाँ दीवार पर टंगे हुए थेI

उसने गहरी साँस भरीI “मैं कहाँ दबाऊँ?” उसने पूछा और रिंग को घुमाने लगीI

“दाहिनी ओर सबसे बाहर वाला दूसरा बटनI” योरी झुंझलाते हुए बोलाI “और दबाना है, घुमाना नहीं है वरना हमें स्टेशन फिर से ढूँढना पड़ेगाI”

लीना ने सबसे बाहर की ओर से दूसरा बटन दबाया और एक महिला की आवाज़ जो उन्हें सुनाई दी वह आश्चर्यजनक रूप से साफ और शोर-रहित थीI वह मौसम की सूचना दे रही थी जो एक पुरुष द्वारा पढ़ी गयी थीI उसने आँधी और अनवरत बर्फ़बारी की भविष्यवाणी की और इस वाक्य से समापन किया:

चाहे तूफां चाहे आंधी

एक ही है जो आपको थामे

उदारता से वह आपकी रक्षा करेगा

वह रक्षक पूरी दुनिया का

योरी और लीना ने एक दूसरे को देखाI वे इस कहावत से परिचित थे क्योंकि उन्होंने उसे उस दीवार पर टांग रखा था जिस के सामने दराज़ वाली अलमारी रखी थीI

लीना ने सिर हिलायाI “इसका कुछ अच्छा मतलब नहीं निकलताI”

“वैसे ही जैसे हमेशा की तरह उच्च दबाव क्षेत्र और निम्न दबाव क्षेत्रI” योरी का विचार थाI हालाँकि इस प्रकार की भविष्यवाणी उसने पहले कभी नहीं सुनी थीI

जब शाम के समाचार आए और समाचारवाचक का नाम बार्तलोम एप बताया गया तो दोनों एक बार फिर से चौंक गएI

बार्तलोम एप योरी के एक मरहूम चाचा का नाम था जो पादरी थेI उनका फोटो पॉकेट रेडियो के बगल में दीवार पर टंगी फोटो गैलरी में थाI

और वह आवाज़ जो अब सुनायी दे रही थी वह निश्चित रूप से उन्ही की थी जबकि वह तीन साल पहले मर चुके थेI

वे उन श्रोताओं को, जो बुरी ख़बरों की भरमार से अघाए हुए थे, उन्हें एक अच्छी ख़बर देना चाहते थेI

“पर यह तो ......”लीना बोलीI

“वही हैं” योरी बोला, अपनी आरामकुर्सी पर सीधा हो गया और अपने टूटे हुए पाँव को भूल गयाI ये तो चाचा बार्तलोम हैं!”

लीना को भी उनकी अच्छी तरह से याद थी क्योंकि उन्होंने ही इन लोगों का विवाह संपन्न कराया थाI

और अब उन्होंने राहत देने वाली, पितृवत आवाज़ में बोलना शुरू कियाI वे सभी जो हमसे दूर चले गए हैं, सुरक्षित हों क्योकि वे किसी और रूप में सुरक्षित हैं जिनका कि कभी हमें अनुमान भी नहीं था कि वे कितना कष्टमुक्त और खुश होंगेI चूँकि वे बहुत व्यापक नहीं होना चाहते सो उन्होंने इंसानों के बारे में बोलना शुरू किया, जिनसे वे स्वयं इस क्षेत्र में मिले थे, उन इंसानों से, जिन्हें शायद कोई न कोई श्रोता जानता भी होगाI

कुछ समय पहले जब वे टहल रहे थे तो उनकी मुलाकात उनकी बहन बेर्था से हुई जो सिर्फ उन्ही की बहन नहीं थीं बल्कि घाटी में पूरे समुदाय की बहन थींI वे इतनी हलकी और अमूर्त थीं, कि उन्हें पार्थिव इंसान मानने की कल्पना ही नहीं की जा सकती थीI वे पास आयीं और फुसफुसाईं-

“बेर्था बुआ…” योरी बोलाI “बेर्था बुआ – क्या यह संभव है?”

“बेर्था बुआ”, लीना बोली, “वे उनके कुछ ही समय बाद मरी थीं, फेंफडों में सूजन की वजह से, बूढ़े ओसकी के बर्फीले ठन्डे घर में रात का पहरा देने की वजह सेI”

“चुप!” योरी दांत पीसते हुए बोलाI और अब चाचा बार्तलोम उन्हें सुना रहे थे कि कैसे बहन बेर्था ने विशाल शांतिमय प्रकाश और सौन्दर्य से उन्हें प्रभावित कर दिया था, और कितना स्पंदित करता है, उन आत्माओं से मिलना जिनकी आपने देख भाल की है और यहाँ तक कि हौसला भी दिया, और कैसे उनकी माँ विल्हेल्मिने –

“दादी”, योरी फुसफुसाया, “हमारी दादी…”

-और उनके पिता ओटो कार्ल –

“तुम्हारे दादा, लीना फुसफुसाई और अपने ऊपर क्रॉस का चिन्ह बनायाI

-कैसे ये सारे वे लोग हैं जो पूरे समय नहीं थे, पर यूँ कि इंसान उन्हें महसूस कर सके और यह जाने कि बिना उन्हें देखे क्योंकि देखना सुनना और सूंघना सब पृष्ठभूमि में है, इंसान को पहचानने की बात करनी चाहिएI इंसान पहचाने, इच्छाएँ और ललक नहीं रहतीं, सिर्फ एक अंदाज़, और याद एक प्रतीक्षा हो जाती है, एक प्रतीक्षा दूसरी की, जैसे कि कांडिड, जिसने उससे कहा था-

लीना की आंखें चमक उठींI

“वो होल्देर्होफ़ वाला” योरी ने कहाI

-वह बहुत जल्दी चला गया था-

“औंधे मुंह गिरा, शिकार चोर, जा टकराया चट्टानों से” योरी बुदबुदाया

लीना ने नाक साफ़ कीI

-वो शायद यह जानना चाहता कि लीना के रुएदी क साथ क्या हुआ?

“इससे क्या मतलब?” योरी ने पूछा “क्या तुमने इसके बारे में सुना है?”

लीना के चेहरे पर आँसू ढुलक पड़ेI

-पर वह सब इतने दूर है जैसे कपड़े, जिन्हें इन्सान छोड़ देता है, और उसका दर्द भी नहीं होताI

लीना सुबक उठीI

योरी खड़ा हो गयाI "ये कौन सा रेडियो स्टेशन है?"

वह लंगड़ाते हुए भगवान के कोने तक यह देखने के लिए पहुँचा कि पॉकेट रेडियो की सुई स्केल पर कहाँ हैI

"डरो मत", चाचा बार्त्लोम ने कहा और लीना ने अपने कपड़े के कोने से आँखें पोंछी, क्योंकि मैं जहाँ हूँ, वहाँ -, आवाज़ टूट गयी, उसकी जगह सिर्फ एक खड़खड़ाहट सुनायी दे रही थीI एक सरसराहट, एक गड़गड़ाहट, जो तेज़ और तेज़ होती गयी, इतनी तेज़ कि सभी को एक पूर्वाभास सा होने लगा और सभी जोड़े दीवार से उड़ गए, प्रभामंडल में मारिया पीछे गिर गयी और योरी ने अपनी लीना को दबा लिया, दोनों ने एक दूसरे को बाँहों में इतनी कस के भींच लिया जैसा कि जीवन में अब तक कभी नहीं कियाI

(सुश्री क्षिप्रा चतुर्वेदी जर्मन भाषा से हिंदी की ख्याति प्राप्त अनुवादक हैं।)

ISSN 2454-7131

गाय और कंपनी

लेखक : पराशर कुलकर्णी
अनुवाद : जे० आत्माराम

(पराशर कुलकर्णी द्वारा अंग्रेजी में लिखित 'Cow and Company' कहानी का यह अनुवाद है। यह कहानी राष्ट्रकुल की लघुकथा लेखन प्रतियोगिता - 2016 में सर्वश्रेष्ठ लघु-कहानी का पुरस्कार प्राप्त कर चुकी है।)

'कहाँ है गाय ?' ऑफिस मैनेजर ने पूछा।

'गाय ?' जूनियर ऑफिसर आश्चर्य ज़ाहिर करते हुए कहा।

'हाँ, गाय, और नहीं तो क्या ?'

'ओ..... गाSSSSय..........'

'दो दिन पहले ही तो मैंने तुमसे कहा था ना '

'हाँ...हाँ.. , मुझे याद है ... बस आज शाम तक.....?'

'आज शाम तक नहीं, आज दोपरहर तक मुझे गाय इस लॉबी में खड़ी मिलनी चाहिए।' कहते हुए आफिस मैनेजर वहाँ से चला गया।

'मैंने तो सोचा था कि सर यूं ही मजाक में कह रहे थे...' अपने डेस्क की लौटते हुए, जूनियर ऑफिसर कहने लगा।

' क्या.. गाय चाहिए ?' वहाँ के एकाउन्टेंट ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए पूछा।

'हाँ'

'असली गाय ?'

'हाँ, गाय, असली गाय, जीती-जागती गाय। अब, चलो मेरे साथ।'

जूनियर अफिसर ने मुख्य द्वार की ओर नजर दौड़ाई। पुराने और जर्जर स्टूल पर फुर्सत से बैठा कार्यालय सहायक अपनी नाक में उंगली डाले, नाक साफ़ कर रहा था। उससे कहा-- 'नटवरलाल, तुम भी चलो।'

ISSN 2454-7131

सीढ़ियों से उतरते हुए, आधे रास्ते में, सहायक ने देखा कि एक सफाई कर्मचारी (क्लीनर) अपनी उँगलियों पर कुछ गिनती करते हुए ऊपर की ओर आ रहा था। उसने उस सफाई-कर्मचारी का हाथ पकड़कर उसे रोका और उसे भी अपने साथ ले लिया। अब ये चारों लोग एक गाय की खोज में निकल पड़े।

'मैं हर रोज यहाँ, दो गाय देखता हूँ। आज क्या छुट्टी है ?'

'वे जरूर मेले में होंगी।'

'लेकिन वो तो पिछले हफ्ते लगा था।'

'चलो, स्टेशन के पास खोजते हैं।'

'स्टेशन तो यहाँ से एक मील दूर है।'

'मुझे आज ही बही-खाते का बचा-कुचा काम निपटाना है। मिस्टर पेस्टोन जी ने कहा था कि ये काम बहुत अर्जेन्ट है।' कहते हुए एकाउन्टेन्ट वापस लौटने के लिए कदम बढ़ा ही रहा था कि...

'यह गाय ढूँढ़ने का काम भी तो पेन्टोन जी का ही है और वह भी दोपहर से पहले ' जूनियर आफिसर झल्लाया।

'हाँ..,हाँ..' कहते हुए एकाउन्टेन्ट ने अपना सिर हिलाया, फिर अचानक तुनक कर बोला – "नहीं, नहीं.., लन्च पर मिलते हैं ' कहते हुए वापस लौट गया।

शेष तीनों ने अपनी यात्रा जारी रखी, सहायक बार-बार पीछे मुड़ कर देखता, फिर अपनी नजर आकाश की ओर घुमाता, और फिर अपने जूनियर अफिसर की ओर नज़र दौड़ाता। ऐसे वह दो बार कर चुका था, जब बेचैन जूनियर अफिसर की नजर उससे मिली, तो दोनों एक-दूसरे को कुछ क्षण देखते रह गये, सहायक अपने माथे का पसीना पोछा। उसके माथे पर चिंता की लखीरें साफ़ नज़र आ रही थी। अब सूरज, सर पर चढ़ चुका था, चिलचिलाती धूप में वे सभी व्याकुल हो रहे थे।

आधे मील दूर चलने के बाद,   गाय का दूध, गाय के दूध से बनी दही, गाय दूध से बना मक्खन, गो-चर्म, गोबर, गाय के चित्र, गाय के भित्ति-चित्र, गाय की मूर्तियाँ, गाय का मंदिर..., इस प्रकार गाय से जुड़ी वस्तुओं की कई दुकानें नज़र आने लगीं, पर गाय कहीं नज़र नहीं आ रही थी, वहाँ गाय-गाड़ी है पर गाय नहीं है। उन्होंने देखा कि वहीं पास में एक आदमी एक पैर पर खड़ा होकर "गाय..... गाय...." दुहराये जा रहा था, लेकिन उसके समीप कहीं भी जीते-जागते उस जानवर के दर्शन नहीं हो रहे थे। तभी लोगों का एक समूह, जो लगभग एक डजनभर रहे होंगे, उस आदमी के आस-पास इकट्ठा हो गए। उनकी आपस की बात-चीत से यही मालूम हुआ कि वह आदमी इस मुद्रा में पिछले आठ महीने,उन्नीस दिन और पाँच घंटों से खड़ा है। लेकिन कोई भी उसकी चिंता नहीं कर रहा है।

'हाँ, हाँ... !, कोई क्यों चिंता करे इसकी ?' जूनियर आफ़िसर ने कहा। 'ऐसे लोग बनारस की हर गली-कूचे में खड़े मिल जाएँगे। कुछ तो अपने सर के बल खड़े भी मिल जाएंगे। हमारे बड़े-चाचा जी कहा करते थे कि वहाँ के एक मंदिर के पास, एक आदमी अपनी छह वर्ष की उम्र से ही अपने हाथों के बल पर चल रहा है।'

'अब उसकी उम्र कितनी हो गयी होगी ?'

'सो तो मैं नहीं जानता, पर छह साल पहले जब मेरे चाचा जी का देहांत हुआ था, तब वे स्वयं साठ वर्ष के थे। अब हमारे चाचा जी तो नहीं रहे, पर वह प्राणी अभी भी जीवित है। हो सकता है अब उसकी उम्र जरूर एक सौ वर्ष से अधिक हो !'

'छोड़ो..., ये बातें तुम नहीं समझोगे,' उनमें से एक व्यक्ति ने कहा, जो अपने आपको उस घटना का प्रत्यक्ष साक्षी बता कर प्रवक्ता की तरह वहाँ खड़े सभी लोगों के सवालों का जवाब दे रहा था। 'असली बात तो ये है कि वह आदमी नहीं, वह एक कौआ है।'

'कौआ ?'

'हाँ, दो महीने पहले यह कौआ यहाँ आया था और आ कर उस आदमी की जगह खड़ा हो गया, अब वह उस जगह से नहीं हिल रहा है। यह कौआ अब अपनी आवाज में कोरस देते हुए "काऊ.. काऊ" भी कहता है, वह भी अंग्रेजी में। कुछ दिन पहले एक अंग्रेज अधिकारी यहाँ आया था। उसने ही यह सुनिश्चित किया कि यह कौआ अंग्रेजी में "काऊ"(COW) यानी " गाय " कह रहा है।

तभी चर्च की गंटियाँ गड़गड़ायी। बारह बज चुके थे। उन तीनों को ऐसे लगा कि किसी ने उन्हें गहरी नींद से जगा दिया हो, वे तीनों ऐसे-तैसे उस भीड़ से बाहर निकल कर और स्टेशन की ओर चल पड़े।

'वहाँ देखों..., मुझे वहाँ एक गाय दिखाई दे रही है ', सहायक ने चिल्लाया। एक तंदरुस्त, दूधिया-सफेद गाय, बरगद के पेड़ से अपनी पीठ रगड़ रही थी। उसकी सींगों पर लाल रंग पुता है।'

'क्या तुमने उसके मालिक को देखा है ?'

'वह बंधी नहीं है। जरूर आवारा होगी ।'

'लेकिन उसके गले में घंटी है।'

'कोई फर्क नहीं पड़ता। हम चुरा थोड़े ही न रहे हैं ? थोड़ी देर बाद यह गाय वापस आ जाएगी।'

ISSN 2454-7131

सहायक पास के झाड़ियों से पत्तेदार टहनियाँ तोड़ लाया। 'क्या ये पर्याप्त हैं ?'

'वो इसे नहीं खाएगी।' सफाई कर्मचारी (क्लीनर) ने कहा।

'वो खाएगी। अब घास खोजने का समय नहीं है हमारे पास।'

गाय ने पत्तेदार टहनियों को देखा, सहायक गाय की आँखों की ओर देखता हुआ आगे-पीछे खिसक रहा था। जब उसने टहनियों से उसकी नाक को मसलते हुए उसे सुंघाने की कोशिश की तो उसने अपना मुँह खोला, फिर तुरंत ही पत्ते बाहर थूक दिये।

'मैं कैसे इस रस्सी से बाँधू ?'

'कान के ऊपर से ले लो और उसके गले में बाँधो।'

हाथ में रस्सी थामे जूनियर आफिसर आगे यूँ बढ़ने लगा मानो वह उसे फूलों की हार पहनाने जा रहा हो। रस्सी को देख गाय ने अपना सर हिलाया और रस्सी गोबर में जा गिरी। 'ईईईई...' उसने कहा।

'तुम लोग इन पत्तों को खाते हो, नहीं ना ?

'तुम लोग जिस तरह स्वादिष्ट भोजन खाते हो, गाय का भी अपना भोजन होता है' जूनियर आफिसर भड़ग उठा।

ऐसे-तैसे गाय के गले में रस्सी बाँधी गयी। इस बीच सहायक थोड़ी घास खरीदने के लिए समीप के मंदिर की ओर दौड़ा। मंदिर के द्वार पर एक बूढ़ी महिला घास बेच रही थी।

'दो पैसे', बूढ़ी महिला ने कहा, वह मंदिर की दीवार से अपनी पीठ सटाये खड़ी थी। मंदिर की दीवार ऊबड़-खाबड़ ईटों से बनी थी जिसकी ऊंचई तीन फीट थी। लोगों का कहना था कि सड़क विस्तारीकरण नाम पर होने वाले अतिक्रमण रोकने के लिए यह दीवार वहाँ के ब्राह्मण-समुदाय द्वारा आनन-फानन में बनवायी गयी थी। सड़क विस्तारीकरण को रोकने के लिए किये जाने वाले इस प्रकार के प्रयास कोई नई बात नहीं है।

'ये लो, एक पैसा, वैसे भी, तुम पैसे जुटाने के इरादे से नहीं बेज रही होगी।'

'वो मेरी मर्जी है, मैं किसी भी इरादे से बेचूँ...।

'जो मिल रह है उसे रख लो बुढ़िया। यूं ही पड़ी रही तो कल तक ये घास भी तुम्हारे चहरे की तरह सूख जाएगी।' उसने सिक्का उस बुढ़िया के चटाई पर फेंकते हुए कहा।

वह गाय, जिसके गले में घंटी झूल रही थी, उन तीनों के पीछे-पीछे चलने लगी थी। कार्यालय की सीढ़ियों तक पहुँचते ही, वह अचानक रुक गई। कार्यालय सहायक और सफाई कर्मचारी (क्लीनर) उसे धक्का लगा कर उसे आगे करने लगे थे।

'ये क्या हो रहा है ?' गार्ड दौड़ता हुआ उनके निकट पहुँचा।

'तुम लोग इस गाय को कहा ले जा रहे हो ?'

ISSN 2454-7131

'सर थोमप्सन के पास' सहायक ने कहा। ' पर यह ऊपर चढ़ नहीं रही है।'

गार्ड ने अपने डंडे से गाय को जोर से पीटते हुए हाँकने लगा। दूसरी मंजिल तक पहुँचते-पहुँचते गाय ने सहायक की कमीज पर और लॉबी के लाल कालीन पर पैशाब कर दिया। इसे देख जूनियर ऑफिसर जोर हँसा पड़ा।

'क्यों हँसते हो। क्या आप लोग गो-मूत्र का पान करते हो ?' कहा सहायक ने, अपनी कमीज उतार प्रसादन की ओर जाते हुए।

जूनियर ऑफिसर स्तब्ध हो गया था।

*

मैनेजिंग डाइरेक्टर टेबल पर अपने पैर पसारे बैठ आराम फरमा रहा था।

'अपने चीइंग गम की कीमत क्या होगी, मिस्टर पेस्टोन जी ? एक पैसा ?' छड़ी को टेबल पर ठोखते हुए उसने पूछा।

'हाँ सर, एक पैसा, ठीक एक पान की कीमत के बराबार। यहाँ हर कोई पान खाता है, अमीर, गरीब, हिन्दू, मुस्लिम, सभी। क्या आपने कभी पान खाया है ?' मैनेजर ने पूछा।

'मुझे पान बिल्कुल पसंद नहीं है'

'मुझे भी पसंद नहीं है, सर। लेकिन सर, बेनेर्जी को हर घण्टे एक पान चाहिए और वह पान खा कर गलियारे में ही थूकता है।'

'मैं जानता हूँ, वो गहरे लाल धब्बे बेनर्जी ने ही किये हैं।'

'हाँ, सर। यह उसी का काम है।'

'जीवन में पहली बार जब मैं पान खाया था, तो ऐसे लगा जैसे कि मेरे फेफड़ें फट जाएंगे।'

'सर, आपने जरूर बिना चबाये पान को वैसे ही पूरा निगल लिया होगा।'

'हाँ, शायद तुम ठीक कह रहे हो। तुम जानते हो ना, अंग्रेज लोग थूकने के प्रति इतने सनकी कभी नहीं रहे।'

'हाँ.. सर। पर क्या वे कभी पान नहीं खाते हैं ? आप जानते हो पान की कीमत क्या है आजकल ?' मैनेजर ने सवाल फिर से दोहराया।

'नहीं जानता' जरा.. मुझे बताओ तो ?' टक, टक, टक, टक...... मैनेजिंग डायरेक्टर ने टेबल पर छड़ी ठोकते हुए कहा।

ISSN 2454-7131

‘एक पैसा। सर, हम चाय और पान के बीच स्पर्धा करा रहे हैं। लेकिन चूविंग गम में इनसे भी अधिक फायदें हैं।’

‘वो कैसे ?’ लयात्मक ढंग से छड़ी से पीटते हुए ही, - मैनेजिंग डाइरेक्टर ने पूछा।

‘क्या यह सिम्फोनी है ?’

‘मुझे लगता है, यहाँ एक व्यक्ति को अपनी आस्था का पालन करना कठिन होता है, तुम क्या कह रहे थे ?’

‘मैं कह रहा था, एक दिन जब मैं पैदल घर जाते हुए सब्जीमंडी के पास रुका था। तो मेरे बगल में एक पेटू आदमी बाम्बे समाचार-पत्र पढ़ रहा था। बाम्बे समाचार यहाँ का एक बढ़िया न्यूज़ पेपर है, कुछ-कुछ अंग्रेजी अखबरों की ही तरह’ --

‘तुम कहना क्या चाहते हो ?’

‘हाँ, हाँ, सर बताता हूं, तो वहाँ जो पेटू आदमी खड़ा था, अपना पेपर ऊँचे स्वर में पढ़ रहा था, जैसे कि वह....’

‘यह सब कहानी सुनने के लिए मेरे पास फुरसत नहीं है पेस्टोन जी, मुद्दे पर आओं।’

‘मैं मुद्दे पर ही आ रहा हूँ, सर, तो उस पेटू आदमी ने जोर-जोर से पेपर पढ़ते हुए बिना सोचे-समझे अपने नये चमडे के चप्पल पर ही थूक दिया। जंगली इंसान कही का! क्षमा करे सर, मेरे लफ्जों के लिए। उसे कोई तमीज नहीं है।’

तो ?

‘अगर वह पान की जगह चूइंग गम थूकता, तो उससे उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता। है ना सर, ’

‘मगर पेस्टोन जी, चूविंग गम में तम्बाकू नहीं होता है।’

‘लेकिन सर, गरीब लोग इसे फिर भी चबाते हैं।’

‘इसमें दोष किसे दे, मुझे बताइए ? ’

‘क्योंकि सर, जब वे भूखे होते हैं और लंबे समय तक बढ़िया स्वाद का आनंद लेना चाहते हैं, तो वे हमेशा अपने मुँह में पान रखना पसंद करते हैं।’

‘लेकिन उनके होंठों से लाल पान का रस जब टपकता है और उससे उसके कपड़ों पर दाग पड़ जाता है। अगर उसके कपड़ों पर दाग बने रह गये तो अक्सर उसकी पत्नी भी गुस्सा हो जाती है। और जब वह गुस्सा हो जाती है तो उनकी दशा बुरी कर देती है। इससे तो यही बेहतर होगा कि वे लोग सारा दिन चूइंग गम चबाये, जिससे वे भी खुश रहेंगे। इतना ही नहीं, सर, पान खाने से भूख भी लगती है। क्योंकि आखिर वह पाचक ही तो है।’

‘पाचक, ये क्या होता है ? ’

‘पाचक..., पाचक, यानी जो हाजमे के लिए लाभकारी होता है..’

ISSN 2454-7131

'हाँ, हाँ, लेकिन फिर भी मैं सोचता हूँ कि चूविंग गम बच्चों के खाने की चीज है, बड़े आदमियों की नहीं। और इसके प्रचार के लिए हमारे पास बहुत राशि भी नहीं है। तुम ऐसा क्यों नहीं करते कि स्कूलों के पास कुछ बोर्ड खड़े कर दो, पहले दस या बारह बोर्डों से शुरू करो।'

'सर, हमें पुदिने के बदले पान के स्वाद वाले चूविंग गम बनाने चाहिए। कोई बालक चूविंग गम पर पैसे क्यों बरबाद करेगा जब वह सीधे अपने माता-पिता से ही पुदीना पा सकता है ?'

'ये स्वाद की बात नहीं है पेस्टोन जी, ये तो उसके स्वरूप की बात है। '

'सर, ऐसी स्थिति में, पान के स्वाद वाले चूविंग गम क्यों नहीं ?'

'वैसे, क्या तुम्हें वह पुराना लेबल याद है ?'

'क्यों, सर ? आपको मेरी याददाश्त पर शक है ? '

'याद कीजिए तो, सब पता चल जाएगा'

'क्षमा करे.., हाँ सर, मुझे याद आ गया'

'क्या यह नया लेबल इसके कन्टेन्ट के विषय में कुछ विशिष्ट जानकारी देता है ?

'हाँ सर, 'जैसे कि - 'पशुओं के पदार्थों का इस्तेमाल नहीं किया गया है। सभी शाकाहारियों के लिए उपयुक्त है।'

'शाबाश !, मैं यह संदेश लेबल पर ही नहीं, पोस्टर पर भी देखना चाहता हूँ।'

'सर, इस मैटर से बहुत-सी जगह खप जाएगी, वैसे भी यह बहुत स्पष्ट रूप से लेबल पर लिखा गया है ना। '

'और वह कैप्शन ? '

'गो माता को भी भाता है – यह चूविंग गम हमारा।'

'मुझे लगता है, ये कैप्शन कुछ ठीक से बना नहीं है।'

'इस कैप्शन के मामले में आप मुझ पर विश्वास कीजिए, सर। बहुत समय तक सोचने के बाद मैंने इस कैप्शन को बनाया है। अपने चूविंग गम के लिए देशवासियों का प्यार पाना है तो इसे गो माता के साथ जोड़ कर दिखाने के सिवाय दूसरा बेहतर तरीका और क्या हो सकता है सर ? आखिरकार, यह देश का पहला चूइंग गम है।'

'ये कैसी बूँ आ रही है ?' आस-पास नज़र दौड़ाते हुए, मैनेजिंग डायरेक्टर ने पूछा।

'सर, मेरे पास वह चीज़ है जिससे आप संतुष्ट हो जाएंगे कि गाय ही हमारे उत्पाद के लिए सबसे बढ़िया एम्बेसेडर है।'

'क्या ?'

'उसे इधर लॉबी में देखिए।'

मैनेजिंग डायरेक्टर अपने कमरे से बाहर आया। देखा कि लॉबी में खड़ी गाय की नम आखें लिये दाना चबाते हुए, उसीकी ही ओर देख रही है।

'ये क्या बेवकूफी है ? ये कैसा मजाक है, मिस्टर पेस्टोन जी ?'

'मजाक नहीं सर, इसे मैंने खास आपके लिए ही मंगवाया है। यह बताने के लिए कि चूइंग गम की तरह ही गाय कैसे जुगाली करती है। इसीलिए हमारे पोस्टर पर उसका चित्र दिखाना बिल्कुल उपयुक्त है। अब मैं उसका मुँह खोलने जा रहा हूँ ताकि आपको यकीन हो जाए।

'नटवरलाल ! इसका मुँह खोल कर बताओ,' मैनेजर ने सहायक को आदेश दिया।

'गाय कतर सकती है, सर।'

'गायें कतरा नहीं करतीं। तुम सिर्फ उसका मुँह खोलो।'

सहायक ने अपने हाथ पर कपटा बांधा और गाय का मुँह खोलने का प्रयास करता है। गाय बिल्कुल निश्चल भाव से खड़ी थी। उसके मुँह से लार धीरे-धीरे टपकते हुए सहायक की कलाई से होते हुए उसके बाहों के नीचे पहुँचने लगता है जिससे उसे कुलबुलाहट होने लगती थी।

'अब खींचो..,' मैनेजर ने फोटोग्राफर की ओर देखते हुए चिल्लाया, जिसे विशेषकर इसी काम के लिए बुलवाया गया था।

'यह बहुत काला आया है', फोटोग्राफर ने कहा। उसने उस आदमी का खड़ा चित्र लिया था, जिसके लिए वह तैयार नहीं था। वह इस नाटकबाजी से निरुस्साहित लग रहा था।'

'नटवारलाल ! टार्च ले आओ।'

सहायक स्टेशनरी रूम में दौड़ा और टॉर्च लेकर आया। जब सहायक ने अपने दोनों हाथों से गाय का मुँह खोल कर पकड़े रहा तब मैनेजर ने गाय के मुंह पर टॉर्च से फ्लैश मारा।

'बहुत खूब', फोटोग्राफर ने कहा।

'मैं चाहता था कि वह अपना मुंह पूरा खोले,' मैनेजर ने कहा, फिर मैनेजिंग डायरेक्टर की ओर मुड़कर, 'सर ! गाय सारा दिन चबाते रहती है। सभी हिन्दू गाय को पसंद करते हैं। अगर हम उसे अपने पोस्टर पर इस्तेमाल करेंगे तो वे हमारे चूविंग गम को भी पसंद करेंगे।'

उसने फिर से गाय के मुँह पर टार्च से फ्लैश मारा। इस बार गाय घबरायी, और अपना सर हिलाते हुए फोटोग्राफर तथा उसके यंत्र की ओर जाने लगी।

'पहले, इसे यहाँ से बाहर निकालो,' मैनेजिंग डायरेक्टर ने चिल्लाते हुए कहा। 'इस जगह को तुरंत साफ करवाओं, अभी ! मैं यहाँ साँस नहीं ले पा रहा हूँ। दिन ढलने से पहले-पहले, मैं इस जगह को पूरी तरह साफ, बिना किसी दाग- धब्बे के देखना चाहता हूँ !, और वह तमतमातो हुए वहाँ से चला गया।

'वे तीनों फिर से गाय को खींचते हुए ले गये। जब लोगों ने गाय के गर्दन को पकड़ कर उसे मोड़ने का प्रयास किया तो उसने उन लोगों को फर्श पर पटक दिया। और अब वह फाइलिंग रूम की ओर बढ़ने लगी।

उस दिन का डाक अभी पेंडिंग था। सहायक फुर्ती से डिस्पैच रूम की ओर दौड़ा। फिर रसोई से अपने सैंडल लिये उसके बाद एकाउन्टेन्ट के पास जा कर उससे कुछ छुट्टे पैसे लिये, और जो वहाँ से चला तो आधे मील की दूरी पर स्थित डाक घर पर पहुंच कर ही सांस लिया, डाक घर बंध होने के दो मिनट पहले वह वहाँ पहुँच गया था। जब तक सहायक काम निपटा कर लौटता तब तक शाम के 5 बज चुके थे। सारा ऑफिस खाली हो चुका था। मैनेजर रिकार्ड-रूम के दरवाजे का सहारा ले अपनी थका-हारा खड़ा था। फोटोग्राफर वाली घटना के बाद, वह उस गाय के पीछे ही लगा था, और उसे कमरे से बाहर कर किवाड़ लगा कर ही साँस लिया था।

'क्या सब कुछ ठीक है ?' सहायक ने पूछा।

'इधर आओ, बेवकूफ़ !'

'ओ नहीं, ये क्या... गाय!'

गाय के गोबर की बू कम ना होती देख मैनेजर ने दरवाजे के कपाट खोले तो देखा कि कमरे मध्य में, अपने पैरों को मोड़े वह गाय बहुत शांति से बैठी हुई थी और अपने मुँह में एक भूरे रंग की फाइल चबा रही थी ।

'ये कौन सी फाइल है ?' मैनेजर ने पूछा।

'मुझे नहीं पता। '

'खींचो इसे।'

सहायक ने आधा चबाये फाइल को गाय के मुँह से खींच कर बाहर निकाला। उस पर लिखा था - '.... मई माह का पत्राचार, खंड 1'

'पिछले वर्ष के बारे में। अब कोई नहीं पूछेगा। ये सब साफ कर दो और इस गाय को यहाँ से बाहर निकालो। '

मैनेजर गाय की ओर बढ़ा और उसके पैर खींच कर उसे ऊपर उठाने कोशिश करते हुए बोला, 'उठों, ओ.. बुद्धु जानवर, उठों ?'

'धत्त, शी...शी..' मैनेजर गोबर और मूत्र के पोखर पर फिसल कर ओंदें मुंह गिर पड़ा। सहायक ने उसके मुंह को बचा लिया। गाय खड़ी हो गयी। फर्श पर मैनेजर को पड़े हुए देख दो सेकण्ड के लिए सहायक की आँखे खुली-की-खुली रह गयी। गाय ने अपना मुंह मोड़ लिया, जैसे वह यह जता रही हो कि वह उसकी आवस्था देख शर्मिंदा है। और वह मैनेजर को पार करती हुई, सीड़ियो से उतरते हुए दरवाजे के रास्ते बाहर चली गयी। सहायक भी गाय

ISSN 2454-7131

का पीछा करते हुए उसके पीछे-पीछे जाने लगा, सहायक तब तक उस गाय के पीछे ही रहा जब तक कि वह गलियों में ओझल नहीं हो गयी।

'देखिए न सर, यह कितनी बुद्धिमान जानवर है। वह जानती है कि बाहर जाने का रास्ता किस ओर है।'

'सिर्फ वही एक दरवाजा खुला था, बेवकूफ़। जाओ, मेरे लिए तौलिया लाओ।'

'लेकिन फिर भी, सर, वह धक्का मार कर दूसरे दरवाजे भी खोल सकती थी।'

'तो, अब मैं क्या करूँ ?' मैनेजर ने झल्लाया।

'घर जाइए, सर। '

'फाइल का क्या करेंगे !'

'मेरे पास एक बेहतरीन तरकीब है। एक-दो चूहे ले आते हैं और उन्हें कमरे में छोड़ देते हैं। हम कहेंगे कि चूहों ने फाइल कुतर दी है।' सहायक ने जवाब दिया।

'यदि चूहे और अधिक फाइलें बरबाद कर देंगे तो ?'

'हम उन्हें पिंजड़े में रखेंगे और कहेंगे कि हमने उन्हें पकड़ा है। वैसे भी कोई अन्य व्यक्ति तो रिकार्ड रूम में नहीं जाएगा।'

'बेनर्जी जा सकता है।'

'तो ठीक है, कल मैं बेनर्जी से कह दूंगा कि मैंने एक चूहा देखा था। या आप ही कह देना कि आपने एक चूहा देखा था। रिकार्ड रूप में। पर रिकार्ड रूम जाकर मैं क्या करुंगा ? '

'नहीं, तुम ही उसे बताना,' मैनेजर ने कहा।

*

एकाउन्टेन्ट, खिड़की से बाहर के साड़ी की दुकान की ओर देख रहा था, इतने में सहायक उसके पास पहुंचा।

'बेनर्जी सर।'

एकाउन्टेन्ट खिड़की की आड़ में गली में उस पार खड़ी महिलाओं ताड़ रहा था। शहर से आने वाली खूबसूरत महिलाओं के कारण वह साड़ी की दुकान बहुत लोकप्रिय हो गयी थी। महिलाएँ कहीं-कहीं से आतीं और दुकान पहुंचती ही कहीं ओझल हो जाती। वहाँ पहुँचनेवाली महिलाएं बहुत सुंदर नज़र आ रही थीं, उनके खुले बाल

सागर की हवा से लहरा रही थीं। छोटे कसे हुए स्लीवलेस ब्लाउज़ के दबाव के कारण उनका मध्यपट एक्सोस हो रहा था। ये देख एकाउन्टेन्ट मन ही मन सोचने लगता है कि 'क्या वे *धुरंधर्स पोट्रेट्स* से कभी बाहर निकलेंगीं ? आखिर कब तक मैं खिड़की के पीछे खड़े होकर उनकी तसवीर बनाता रहुंगा ?'

एकाउन्टेन्ट देश के सबसे महान पेन्टर राजा रवि वर्मा से प्रभावित था। शुक्रवार के दिन उसने मैनेजिंग डायरेक्टर को यह कहते हुए सुना था कि धुरंधर राजा रवि वर्मा को भी पार कर गया है। उसके अगले ही दिन धुरंधर्स की 'भारतीय महिलाएँ' शीर्षक चित्रकला प्रदर्शनी, जो आर्ट स्कूल में आयोजित की गई है, को देख संतुष्ट हुआ।

'बेनर्जी सर'

'हुश्.... क्या हैं ?'

'कुछ नहीं... कलकत्ता में फैल रहे प्लेग की बीमारी के बार में आप कुछ जानते हो ?'

'कलकत्ता में कोई प्लेग नहीं है। तुमसे किसने कहा है ?'

'मैं यूँ ही पूछ रहा था। कल मैंने रिकार्ड रूम में एक चूहे को देखा था, इसीलिए मैंने सोचा कि ---'

'इस भवन में कोई चुहा नहीं है। '

'हैं सर, मैंने खुद अपनी आंखों देखा है।'

सहायक दौड़ते हुए रिकार्ड रूम में पहुंचा और एक फाइल हाथ में लिए लौटा।

'सर, ये देखिए फाइल, चूहों ने आधा कुतर दिया है।'

'लाओं, जरा मुझें देखने दो। ये फाइल क्यों गीली है ?'

'नहीं, नहीं, इसे चूहों ने नहीं कुतरा है। मेरे विचार से वहाँ जरूर पानी का रिसाव होगा।'

'किस चीज का रिसाव होगा ?'

'पानी का'

'क्या रिकार्ड रूप में मूसलाधार बारिश हो रही थी ?'

'मूसलाधार', शब्द पर दबाव डालते हुए एकाउन्टेन्ट ने दुबारा कहा।

'मूसलाधार वर्षा'

जोनाथन स्विफ्ट के अनुसार (1710)

अर्थ : भारी वर्षा

वाक्य : कलकत्ते में मूसराधार बारिश हो रही है और बारिश की वजह से ही इतना बड़ा सुरंग हो गया है।

सहायक ने दरवाजा लगाते हुए कहा कि... 'नहीं सब ठीक है, शायद, मैंने ही गलती से खा लिया होगा।'

ISSN 2454-7131

'क्या तुमने पी रखी हैं, नटवरलाल ?'

रिकार्ड रूम से गाय की बू चितरा रही थी। मैनेजर वहां तुरंत पहुंचा। मैनेजर को वहां देख कर, सहायक का तनाव थोड़ा कम हुआ।

'नटवरलाल, तुमने यहाँ गाय को वहाँ छोड़ा था ना ?' एकाउन्टेन्ट पूछा।

यह सुन उसने पहले सहायक मैनेजर की ओर ऊम्मीद भरी नज़रों से देखा, उसके बाद एकाउन्टेन्ट की ओर देखा।

'तुम्हारी एक दिन का तन्खाह काटी जाएगी ', एकाउन्टेंट ने कहा, 'और उस फाइल को सीधा करो।'

'न.न.नहीं, सर, लेकिन पिस्टोन जी सर, आप कुछ....' – सहायक ने असमंजय भरे स्वर में कहा।

'क्या पिस्टोनजी सर ? पिस्टोनजी सर भी, इस बार तुम्हें नहीं बचा पाएंगे। मिस्टर बेनर्जी ठीक कह रहे हैं।' सहायक की ओर आँख मारते हुए मैनेजर ने कहा।

सहायक ने सिर झुकाए वहाँ से मायूस होकर भीतर-ही-भीतर बड़बड़ाते हुए रिकार्ड रूप की ओर चला गया।

*

शाम को जब मैनेजर अपने घर पहुंचा, तो उसका ध्यान अपने नये पड़ोसी के नेम प्लेट गया – 'ए.के. हेगडे'।

'पारसी है, क्या तुम उनसे मिलीं ?' द्वार के कापट खोल रही अपनी पत्नी से उसने पूछा।

'नहीं। तुम्हें ऐसा क्यों लगा ?'

'यह एक लंबी कहानी है।'

'क्या आज आपने अपने पैंट में ही शौच कर लिया है ?' पत्नी ने पूछा।

'नहीं, मैं गोबर पर गिर गया था।'

'गिर गये थे ? ऐसी बेवकूफी तुम कैसे कर सकते हो ?'

'वो मेरी गलती नहीं थी। वह तो गाय थी, जिसकी वजह से... '

'चलते समय क्या नीचे देख कर नहीं चल सकते थे ? हमेशा आकाश में देखते हो। क्या तुम्हें गाय नहीं दिखीं ? हाथी जितनी बड़ी होती है।'

'क्या तुमने पड़ोसियों को देखा है ?'

'नहीं। '

'शायद वे लंदन से आये हैं।'

'आप कैसे जानते हो ?'

'मैं जानता हूँ। कल खाने में तुम्हारा स्पेशल धनसक बनाना। उसमें से थोड़ा मैं अपने नये पड़ोसी को देकर उन पर अपना इम्प्रेशन जमाऊँगा। और हाँ, स्टील के नहीं चीनी के कटोरे का देना।'

अगले दिन उसने चीनी के बर्तन पर अल्यूमिनियम की फाइल चढ़ाया। यह कटोरा उनसे आठ महीने पहले खरीदा था, उसके बाद से आज ही पहली बार इस्तेमाल के लिए उसने निकाला है। उस कटोरे पर उसने सफेद रिब्बन लगाया और उसे दुबारा करसर बाँद दिया।

'क्या अब मैं मिस्टर हेडगे से मिल सकता हूँ ?' क्या मुझे मिस्टर हेडगे से मिलने का सौभाग्य मिलेगा ? क्या मैं मिस्टर हेडगे के दर्शन कर सकता हूँ ? मैं मिस्टर हेडगे से मिलने आया हूँ ? मैं अपने नये पड़ोसी मिस्टर हेडगे से मिलने आया हूँ जिसकी मैंने बड़ी तारीफ सुनी है। आप कैसे हो ? बहुत खूब!, बहुत खूब! । आप कितने दयालू हैं .....' इस तरह अपने घर से निकल पर पड़ोसी के डोरबेल की घंटी बजाने तक वह यूँ ही मन ही मन.. बड़बड़ाने लगा।

'मिस्टर..मिस्टर हे..हे.. हेडगे प्लीज़,' मैनेजर ने कहा।

'हेड्गेय... ?' भीतर से किसी ने कहा।

'हाँ, मिस्टर हेडगे।' मैनेजर ने फिर से कहा।

'हेडगे नहीं, हेगडे। तुम्हारा मतलत है कि मिस्टर हेगडे, जो सोलापुर, बुम्बई क्षेत्र से आये हैं ?'

'हेडगे !' मैनेजर ने फिर से वही दुहराया।

'नहीं । मिस्टर हेगडे।'

'क्षमा करे.... मैंने तो.... मैंने तो सोचा था कि........ अच्छा धन्यवाद।'

वह आदमी पूरी तरह से अपना द्वार खोलपाता, इससे पहले ही मैनेजर हड़बड़ाते हुए सीढ़ियों से जल्दी-जल्दी उतरने लगा। इस जल्दबाजी में उसके हाथों से कटोरा फिसल कर नीचे गिर गया। कटोरे से भूरे रंग की सब्जी भी नीचे गिर गई। वह कीमती चीनी का बर्तन टूट कर टुकडे-टुकडे हो गया। एक बड़ा-सा धब्बा उसके नये जूतों पर पड़ गया। अब तो उसके हाथ में केवल सफेद रंग की रिब्बन बची रह गई, जो हैंडल पर लटक रही थी, सारा व्यंजन नीचे बिखर गया था।

*

एक पंडित ऑफिस में मैनेजर को ढूंढ रहा था, उस सप्ताह उसका यह दूसरा चक्कर था। प्रायः लोग ही उसके पास आया करते थे, वह कभी भी लोगों के पास नहीं जाता था। लेकिन यह उसके पड़ोस का तीसरा ऑफिस था जो

ऑफिस में पूजा-पाठ कराने की चिंता ही नहीं कर रहा है। उस पंडित की चिंता थी कि अगर वे पूजा कराने से इनकार कर देते हैं, तो संभव है दूसरे लोग भी उनका देखा-देखी ऐसा ही करने लगे, यहाँ तक कि देशी व्यवसायी भी पूजा-पाठ से मुंह फेर सकते हैं। इसीलिए पंडित यह तर्क देने लगा कि पूजा तो सबके लिए शुभ होती है। पूजा के दौरान की जाने वाली प्रार्थना, मंत्रोच्चार से सौभाग्य, संवृद्धि प्राप्त होती है। इसलिए वह अपने साथी पुजारियों के साथ विचार-विमर्श कर यह निश्चय करता है कि वह अपनी सेवाएँ निःशुल्क ही देगा। सार्वजनिक समारोह करेगा। इससे समाज में कड़ा संदेश जाएगा। इस कार्यक्रम पर जो खर्च आयेगा, उसे तो बाद में, दूसरों के माध्यम से वसूला जाएगा।

जब सहायक ने यह देखा कि एक गोल-मटोल व्यक्ति सीढियों के मार्ग से ऊपर आ रहा है, तो उसने उस पंडित को सीढियों पर ही रोक दिया।

'मिस्टर पेस्टोन जी अंदर नहीं है..' सहायक ने कहा, यद्यपि मैनेजर, मैनेजिंग डायरेक्टर के कमरे में जाते हुए नज़र आ रहे थे। सहायक को यह कड़ी हिदायत दी गयी थी पंडित को भीतर न भेजे। पंडित थोड़ी देर रुक कर वहाँ से पानी पी कर लौटना ही बेहतर समझा। लेकिन उसने सोचा कि पता नहीं यह पानी कहाँ से आया है और किस-किसने इसे स्पर्श कर दूषित किया होगा। इसलिए वह बिना पानी पिये ही वहाँ से लौट गया।

सहायक ने सोचा कि यह पंड़ित सीढ़ियाँ न चड़ कर आज उसे बचा लिया है।

अगले सप्ताह यह पंडित एक स्कूल के परिसर में कोई धार्मिक प्रवचन दे रहा था। इस बीच एक चीइंग गम कंपनी के ताजा मुद्रित पोस्टर का प्रसंग आ गया। तब आवेगवश में आकर उसने अपने भाषण का स्वरूप ही बदल डाला।

'इन विदेशियों के मन में हमारे धार्मिक मूल्यों के प्रति कोई सम्मान नहीं होता है। हम कैसे अहिंसा की बात कर सकते हैं, जब हमारी गायों को खुले तौर पर खाया जाता हो ? ' और उसने उस पोस्टर की इशारा किया।

'उस विदेशी उत्पाद में गायों के आंतों का इस्तेमाल किया गया है। देखों, कितनी बेशर्मी के साथ वे लोग यह विज्ञापन दे रहे हैं। इस पर आप लोग कुछ करते क्यों नहीं ? क्या आपने हाथों में चूड़ियाँ पहन रखी हैं ?'

'क्या चूइंग गम में गाय होती हैं ?' भीड़ में एक व्यक्ति ने फुसफुसाते हुए दूसरे से पूछा।

'मुसलमानों ने उस समय क्या किया था जब उन्हें पता लगा कि उनके कारतूस में सूवर की चर्बी लगायी गयी है ? 1857 का विद्रोह !' वह पंडित अपनी बात कहे जा रहा था।

'विद्राह, विद्रोह' भीड़ में से आवाज़ गूंजी।

एक दिन बाद, समाचार-पत्र में शीर्षक छपा – 'चूइंग गम में गाय : ब्रिटिश कंपनी द्वारा हिन्दू धर्म का अपमान'।

उस दिन, रेलवे स्टेशन पर बड़ी संख्या में लोगों को जुटते हुए देखा गया। सुबह के 11 बजे एक बूढ़ा व्यक्ति कंपनी की गेट की ओर चलने लगा और गार्ड से फुसफुसाते हुए कुछ कहा। गार्ड ने अपना डंडा वहीं फेंक, लॉबी से होते हुए सीढ़ियों की ओर दौड़ा, और सीधे मैनेजिंग डायरेक्टर के कमरे में पहुँचा।

'वे लोग हमारे लिए ही आ रहे हैं।'

मैनेजर अपना डेस्क छोड़कर भागने लगा।

'पुलिस को बुलाओ' मैनेजिंग डायरेक्टर ने कहा।

'बहुत देर हो चुकी है, वे हमें खोजते हुए आ ही रहे हैं। वे लोग हमारे पोस्टर जला रहे हैं' गार्ड ने कहा।

'पुलिस को बुलाओ,' मैनेजर ने कहा।

'सबसे कह दो कि इस जगह छोड़ कर चले जाँए, अभी!' भवन के द्वार बंद कर दो' मैनेजिंग डाइरेक्टर ने कहा। डेस्क के दूसरे ड्रायर से उसने कुछ अत्यावश्यक कागज इकट्ठा कर उन्हें अपने ब्रिफकेस में डाल लिया।

कुछ ही मिनटों में ऑफिस के सभी बारह कर्मचारी बाहर निकल गये और गार्ड ने गेट को ताला लगा दिया। मैनेजिंग डाइरेक्टर की कार वहाँ से पहले रवाना हुई। उसके बाद तीन साइकिलें तीनों दिशाओं में चली गयीं। कुछ लोग आनन-फानन में मैनेजर की तरह भवन के पीछे की गलियों से भाग गये।

एक सप्ताह के बाद, रेलवे स्टेशन के रास्ते में सूरत के लिए ट्रेन पकड़ते हुए, मैनेजर ने देखा कि एक छोटा-सा बालक, एक अध-जला कंपनी का नेमप्लेट बजरी हटाकर बाहर निकाल रहा था, जो कभी वह स्थापित था। मंदिर के समीप एक सफेद, स्वस्थ्य गाय बैठी थी। असामन्य रूप से घास का इनाम पा कर वह बहुत व्यस्त थी, जो उसे पिछले सप्ताह भर से मिल रहा था।

(अनुवादक हैदराबाद विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में सहायक प्रोफ़ेसर हैं।)

ISSN 2454-7131

तीन कविताएँ: वाहरू सोनवने

अनुवादक : मिलिंद पाटिल

वाहरु सोनवने आदिवासी विद्रोही कवि है। आदिवासियों के विद्रोह की आवाज वाहरु सोनवने हैं। आदिवासी समाज का वास्तविक जीवन शब्द के माध्यम से कागज पर उतारने का कार्य वहरू सोनवने द्वारा किया जा रहा है। आदिवासियों का आत्म-सम्मान और व्यक्ति बनकर जीने के हक को जनआन्दोलन के माध्यम से धरातल पर लाने वाले कवि हैं, वाहरू सोनवने। वाहरू सोनवने की कविता सिर्फ विद्रोह की कविता नहीं है, वह हजारों वर्ष की संस्कृति का प्रतीक भी है। एक कविता में वे कहते हैं-

मैंने बाँसुरी बजाई फिर भी 'उन' को डर लगता है।

मैं ढ़ोल बजाता हूँ, हाथ में हाथ पकड़कर नाचता हूँ।

गीत गाता हूँ, फिर भी 'उन' को डर लगता है।

मैं लिखता हूँ, विश्व को देखता हूँ, फिर भी 'उन' को डर लगता है।

प्रस्तुत हैं ऐसे विद्रोही कवि की तीन कविताएँ:

कविता

कविता तुम आ गई !

होकर जीवन से त्रस्त ?

तुम कौन ? तुम्हारा जीवन......

पता तुम्हें ही

कल भी आई थीं....फिर आज भी

आओ मत इतनी जल्दी जल्दी.....

ISSN 2454-7131

छीज जाएगा मिलन-रस

बिला जाएगा वह रंग

आती रहोगी केवल आने के नाम पर

जाने के नाम पर जाती रहोगी

लाभ नहीं कोई .....

कविता...... कहता हूँ, तुमसे आओ भी

आओ जरूरत के वक़्त .....

जाओ तुम जाओ.....ग़ुस्सा मत करो

करना हो गुस्सा भी तो करो

तुम्हें हक नहीं है क्या?

परंतु ध्यान में रखो

गुस्सा करने से कुछ अच्छा निकलता हो

तो करो गुस्सा

फालतू रुआब न दिखाओ

दिखाने का लाभ नहीं

उपहास करेंगे लोग.......

नीरस जीवन को

काटने की शक्ति

ISSN 2454-7131

तुममें है .....

शक्ति में धार अगर नहीं

तो उसका उपयोग क्या ?

किसी भी समय मत आना.....

जाओ कविता.....जाओ लौट जाओ

रोने-धोने से नहीं चलेगा

आँसू पोंछो

लौट जाओ

रुदन देख उभर आएगी दया....

भूल यह तुम्हारी

स्थिति देख लौट जाओ.....

तुम मतलबी तो नहीं न ?

संदेह पैदा हो रहा है......

देखो विचार कर

सही बताओ कविता ....तुम मेरी हो ना !

गलती हो गई तो माफ मत करना

फिर, खड़ी क्यों हो?

मुझ पर तुम्हारा विश्वास नहीं

ISSN 2454-7131

लगता है तुम मेरी नहीं रही

कविता, अगर मेरी हो तो

लौट जाओ, ठहरो मत......

विश्वास रखो

मैं भूलूँगा नहीं

धोखा दूंगा नहीं।

हरे जंगल में

हरे जंगल में

गिरे-पड़े

सागौन के पत्तों के समान

जीर्ण-शीर्ण झोपड़ियाँ !

जंगली आदमी

कंदमूल खानेवाले

लेकिन...........

कंद भी नहीं, मूल भी नहीं;

वह तो कब के ख़त्म

विस्तीर्ण भूख के गहरे

पेट में,

हरे जंगल के नंगे लड़के

आदिम साम्यवाद और गुलामगिरी का

खेल रहे थे खेल

मिट्टी में

झोंपड़ी के सामने !

जिंदा छाया

मेहनत को छाया नहीं

ऐसा पुरुष

वह सिर्फ पुरुष

कड़ी मेहनत करने वाला

भूखा जीव।

अंधेरे में चाँद सूरज

दिखते नहीं फिर

मानवता की जीवन छाया कहाँ !

मेहनत को फल नहीं

बचा हुआ जीवन

दूसरे के लिए

ISSN 2454-7131

छाया बनकर जी रहा है शरीर

स्त्री : पुरुष की छाया

पीछे चलती जाती

पैर पे पैर रख।

मानवता का स्वतंत्र अस्तित्व

नकारे व्यवस्था ने ;

तब से डूबते-डूबते खाते

वह बहती आ रही है

गुलामगिरी की बाढ़ में

यहाँ तक,

आब आगे बहते हुए जाने की

डूबने की

उसकी नहीं इच्छा।

जिस पुरुष की मेहनत को छांव नहीं

दूसरे

स्त्री-पुरुष की छांव

इन दोनों को मानवता की छांव नहीं,

पसीना बहाने के बाद भी

दिन-रात मेहनत करके

वियतनाम के पीछे से उग आएगा

वह सूरज, और

किरण पुरुष पर पड़ेंगी और

पुरुष को मिलेगी छांव ,

परंतु वहीं किरण

पैर-पर-पैर रख चलने वाले की

छांव पर पड़ गई तो?

छांव को क्या मिलेगा

मानवता या मृत्यु

छांव को मनुष्य बनाने के लिए

मनुष्य के पास है क्या मानवता

किंचित......

वह एक जिंदा छाया !

(अनुवादक अनुवाद अध्ययन विभाग, म.गा.अ.हि.वि., वर्धा में पोस्ट डॉक्टोरल फेलो हैं।)

ISSN 2454-7131

पोरुनाट्रुप्पडैः मुड्त्तामक्कण्णियार

अनुवादक : डॉ. रामानुज अस्थाना

(तमिल संघम साहित्य के पत्तुप्पाट्टु (कविताओं के दस संग्रह) में पोरुनराट्रुप्पडै संग्रह का विशेष स्थान है यह पत्तुप्पाट्टु का दूसरा संग्रह है | यह 248 पंक्तियों में निबद्ध बड़ा काव्य है | इसके रचयिता मुड्त्तामक्कण्णियार हैं | प्रस्तुत ग्रंथ का नायक पोरुनन रणक्षेत्र का गायक है | उसकी पत्नी के पास सुन्दर याळ (वीणा) है, वह गायिका है | उसे एक दूसरा पोरुनन राजा के पास धनार्जन हेतु जाने के लिए प्रेरित करता है पोरुनन का अर्थ होता है गायक (कवि) यहाँ पर पोरुनाट्रुप्पडै काव्य का कुछ अंश प्रस्तुत किया गया है, जिसमें एक पोरुनन का दूसरे पोरुनन को प्रबोधित करना है, वीणा की सुन्दरता का वर्णन है और गायिका का नख-शिख वर्णन है |)

पोरुनन को सम्बोधित करना

विशाल नगरों से युक्त है तमिल प्रदेश |
सतत आय प्राप्त कर नगर समृद्ध हुए हैं,
इन नगरों में तिथि-त्यौहार सदा मनते हैं,
पोरुनन को भी आय बहुत होती है |
नगरों में नित-प्रति ही अन्नदान होता रहता है |
पोरुनन याचक बनकर नहीं चाहता जीवन जीना |
वह परिवार सहित नगर-नगर में जाकर खोज रहा है दानवीर
को |
ऐसे पोरुनन को सम्बोधित यह रचना है |

पाळै याळ (वीणा) की बनावट

हिरन के खुर के समान दो खुंभे वाली पाळै याळ (वीणा)
गायिका तेरी रखती |
जुड़ने का मध्य स्थान जरा ऊँचा है |
खुंभे के दो भाग जोड़कर कसे मिले हैं
और बँधे हैं दोनों ही चमड़े से |
वह चमड़ा दीप-ज्योति-सा चमक रहा है
और सिलाई उसकी अति सुन्दर है |
सिले हुए धागे की टोभों की पंक्ति
गर्भवती महिला के पेट पर उगी हुई रोमावलि सी है |
चमड़े से आच्छादित खुंभे कहीं न ढीले होने पाएँ
इसीलिए बरमे से छेद कील जड़ दी है उसमें |
कीलें ऐसे चमक रही हैं जैसे आँख केकड़े की हों |
खुंभे का भीतरी भाग खोखला बना है
और दण्ड का भाग ऊपरी अर्ध चन्द्र सैम खुदा हुआ है
और दिखाई देता है वह शुक्ल पक्ष अष्टमी चद्र-सा |
छेदे गए चमड़े का आन्तरिक भाग अल्जिह्वा रहित,
पोपले मुँख-सा शून्य बना है |
खुंभे के सँग लगा दण्ड जो
काला नाग उठाए फन सा
वह दिखता है |
श्याम-दण्ड पर चर्म पट्टियाँ कसी हुई हैं |
वे श्यामा तरुणी के भुजवलय सरिस दिखती हैं
खुंभे से निर्दोष तार जो कसे हुए हैं-
कुटे-बाजरे-गुरी सरिस वे धवल लग रहे |
अब सजधज कर वधू सरिस है याळ (वीणा) लग रही,
जो सर्वांग विभूषित है निर्दोष बनी अति,

याळ के मधुर संगीत का प्रभाव

मरुस्थल में भटक रहे हैं विकट लुटेरे
वे भटककार पथिक वृंद को लूट रहे हैं |
वे अत्याचारी भी निज स्वभाव को बदल सकेंगे
सुने अगर मधुरिम याळ (वीणा) की तान निराली |

याळ बजाकर गाना

सुधर गायिका याळ (वीणा) के तारों को स्पन्दित करती,
छूती, कसती, एर-फेर कर बजा रही है-
और ताल-लय के संग सुन्दर मधुर गीत गाती है |

गायिका का नख-शिख वर्णन

केश राशि श्यामल-श्यामल है रेत तरंगिन तट की
शुक्ल पक्ष अष्टमी चन्द्र-सा मस्तक सुन्दर
भौहें धनुषाकार सुशोभित दिखतीं
वर्षा-सी शीतलता देती आँखें सुन्दर
और ओंठ हैं सेमल की पंखुड़ियों जैसे
दाँत धवल मोती से शोभित होते |
मकराकृत कुंडल के संग कान हिल रहे |
और झुकी ग्रीवा लज्जावश आँखों की |
बाँस सरिस हैं अंश और काँख (बगल) में
कोमल रोमावलि है |

कांदल पुष्प-सी पतली उँगलियाँ और सुधर नख
चोंच लगें तोते की

उष्णता औरों को देते हुए उरोज सघन हैं ऐसे
नहीं सलाका तक है उनके बीच जा रही |
जल में चक्रित भँवर सरिस है नाभि लग रही |
और क्षीण कटि नहीं दिखाई जो पड़ती है |
सुभग (काम मन्दिर) मेखला आच्छादित है
और हस्ति की सूँढ़ लग रहीं उसकी जाँघें |
घुटने सुघर सुडौल मनोरम,
थके हुए कुत्ते की लाल जीभ सद्ृश हैं छोटे युगल पैर दो
पिघली लाख सम तप्त भूमि पर चलने से
गरम कंकड़ों से जलने से
फल जेसे हैं लाल फफोले पड़े पैर में
मध्यान धूप में चलने से बचकर,
वह खड़ी हुई है मोरनी सदृश
अब पास मोर के |

(अनुवादक हिंदी विभाग, महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में सहायक प्रोफ़ेसर हैं।)

मणिपुरी रेडियो नाटक (शक शेम्बा) का हिंदी अनुवाद

कृत्रिम चेहरा

मूल : डॉ. लैशाङथेम तोन्दोन सिंह
अनुवाद : डॉ. ई. विजय लक्ष्मी

पात्र परिचय-

1. डा. केबा : सदा प्रसन्न रहने वाला प्रसिद्ध प्लास्टिक सर्जन, आयु- लगभग 40 वर्ष।
2. थौरानीशाबी : डॉ. केबा की सुंदर-सुशील पत्नी।
3. पकचाओ : सरल स्वभाव, मिलनसार, कुशल वक्ता। आयु- साठ साल से अधिक।

(थौरानीशाबी की उँगलियाँ टाइप मशीन पर टक-टक, ट्रिंग, गद्रग-गद्रग की आवाज़ के साथ चल रही हैं। टाइप की हल्की आवाज़ के बीच पकचाओ अपने में ही बोलता है।)

पकचाओ- सही है, साइनबोर्ड तो पकचाओ का ही है। नाम और जगह भी मेल खा रही है, लगता है, यही है। पर जो मैं करने जा रहा हूँ- लोग जानेंगे, तो ख्वामखा कहीं बेइज्जती तो नहीं होगी। सीधे अन्दर चला जाऊँ !

डॉ. केबा- (कमरे में से) सीधे आ जाइए, क्या बात है ! आप जिस डॉ. केबा को खोज रहे हैं, वे यहीं हैं। आ जाइए, हिचकिचाइए नहीं।

पकचाओ- डॉ.साहब को ही खोज रहा था, पर असमंजस में था कि आऊँ या लौट जाऊँ !

डॉ. केबा- आपकी बात मैं समझ रहा हूँ। इसमें शर्माने की कोई बात नहीं। मेरे यहाँ तो यही होता है। जो भी कहना है झटपट, कोई फिकर नहीं। बैठ जाइए कुर्सी पर, आप खड़े हैं, मुझे अच्छा नहीं लग रहा है।

पकचाओ- (बात पलटने के अंदाज़ में) टाइप करने वाली इबेम्मा कुछ बोल नहीं रही। आपकी धर्म पत्नी है !

डॉ केबा- नहीं, घर की ही है। सब कुछ यही देखती है। मेहनती है, हर काम में माहिर। ककचिङ से है।

पकचाओ- सुन्दर तो बहुत है। मोइराङ थोइबी भी ऐसी ही लगती होगी।

डॉ. केबा- जब नया-नया काम शुरू किया था और ख्याति मिलने लगी थी, तो उस समय बहुत कुशल न होते हुए भी बड़े जतन से बनाया था। सेम्पल के रूप में, यानी नमूने के तौर पर रखे हुए हूँ। देखिए बाएँ तरफ लगी तसवीरें। इनकी पहले वाली शक्ल की हैं। कितना अन्तर है न ! यही मेरा काम है। मेरा व्यावसाय है।

पकचाओ- आप तो इस कदर कुशल हैं। इतने सुन्दर भी हैं , ऊपर से काम भी ऐसा ही करते हैं। कितना मेल खाता है। बहुत जँचता है।

डॉ. केबा- इतनी मनमोहक प्रशंसा के लिए मैं आप का धन्यवाद करता हूँ।

पकचाओ- इबुङो, साहब-से दिखने वाले, तुम्हारे चेहरे पर क्या लन्दन की तरफ का हाथ लगा है ! लोकल तो नहीं लग रहा।

डॉ. केबा- (बेमन से) हुम्म, मैं तो जन्म से ही सुन्दर हूँ, बनावटी ज़रा भी नहीं। माँ के गर्भ से ही ऐसा हूँ।

पकचाओ- उम्म... (थोड़ा सोचकर) आजकल के लोग भी यूँ ही कुछ भी कह देते हैं। छलनी से छान न लो तो कुछ भी पल्ले नहीं पड़ सकता। एक कान से दूसरे कान तक यूँ ही झूठी बातें फैलाते हैं।

डॉ. केबा- (थौरानीशाबी से) अपना टाइप का काम थोड़ी देर रोको। इधर मेरी ओर देखो और बताओ, मेरी सूरत भी क्या बनाई हुई लगती है ! तुम्हें तो मैंने ही बनाया था, मैं भूला नहीं हूँ।

थौरानीशाबी- (शर्माते और हिचकिचाते हुए) यह क्या कर रहे हैं ! मुझे फड़ पर सजाकर बेच ही डालोगे क्या ! (कुर्सी खिसका कर अन्दर जाने को उठने की आवाज़)

पकचाओ- रुको इबेम्मा, अभी जाना नहीं, मुझे भी एक कस्टमर ही मान लो। इतनी सुन्दर होकर शर्मा क्यों रही हो ! नाराज़ तो नहीं हो गई ! गुस्सा मत करो।

थौरानीशाबी- नाराज़ नहीं हूँ खुराइबुङो, मुझे गुस्सा करना आता ही नहीं है। जानती हूँ, गुस्सा किया तो कस्टमर से हाथ धो बैठेंगे। मैं तो केवल कल के लिए औजारों को चैक करने जा रही थी। माफ करें, आप बैठिए, चर्चा कीजिए।

डॉ. केबा – रुको भई, दूल्हा बनने या दुल्हन बनाने तो आए नहीं हैं, जो इस कदर शर्मा रही हो।

पकचाओ- छोड़िए डॉक्टर साहब, लगता है ये सचमुच शर्मा रही हैं। मैं तो नासमझ और बेअक्ल हूँ।

डॉ. केबा- कैसी शर्म खुराइबुङो। हमारे यहाँ कोई शरमाता नहीं। इन तस्वीरों को देखिए, जो लगी हुई हैं। किसी का भी चेहरा हल्का लग रहा हो, तो बताइए। चाहे कोई पेट भर खाए या न खाए, कपड़े मन माफिक पहने या न पहने, पर चेहरा सुन्दर बनाने के लिए यहाँ बहुत लोग आते हैं। लड़कियाँ, जवान बहुएँ, लीला

में अभिनय करने वाले तो बहुत अधिक आते हैं।

पकचाओ- बात तो सही है, सौन्दर्य के लिए स्त्रियाँ ज्यादा मरती हैं। सुन्दरता से या सजधज कर दूसरों को जलाकर खुश होना तो देवताओं के समय से स्त्रियाँ ही करती आ रही हैं।

डॉ. केबा – पर खुराइबुङो, आप तो मर्द हैं। तो क्या आप आँखों पर लटक आई झुर्रियों की वजह से या छोटी होती जा रही आँखों पर बढ़ आई चमड़ी के कारण आए हैं ! क्या चाहते हैं आप हुकुम कीजिए। ये तो मेरे लिए बाँए हाथ का खेल है।

पकचाओ- ऐ ऐ, आप गलत समझ रहे हैं डॉ साहब ! मैं अपने लिए नहीं आया। नाती-पोते खिलाने की उमर है। साठ से भी अधिक का हो चला हूँ। मुझे क्या करना है !

डॉ. केबा – इहे। मैं भी क्या सोचने लगा ! तो बताएँ, इतने मन से पधारने की क्या वजह है !

पकचाओ- मैं तो अपनी बेटी के लिए आया हूँ। अपनी जवान बेटी के लिए। दो भाइयों की अकेली बहन है। गोल्ड मेडलिस्ट, एम.ए., बी.एड.।

डॉ. केबा – तो आप क्या चाहते हैं !

पकचाओ- खर्च कितना आएगा ! केवल एक तिल की बात है। ज्यादा मेहनत नहीं लगेगी।

डॉ. केबा- खुराइबुङो, हमारा काम हवा में बातें करने से नहीं होता। एक बार देखने की जरूरत है। चेहरा कितना लम्बा है, कितना चपटा है। गाल भरे हुए हैं या पिचके हुए। माथा चौड़ा है या उभरा हुआ। आँखें भैंगी हैं या नहीं। तिल के कारण कहाँ भद्दा लग रहा है। इन सब का हिसाब बहुत बारीकी से लगाने और सोचने-विचारने के बाद ही हाथ लगाया जाता है। एंवइ खाली पुलाव नहीं पका सकते। काम बेढंगा हुआ, तो बदनामी होते देर नहीं लगती।

पकचाओ- काम चाहे छोटा हो या बड़ा, जितनी सावधानी बरती जाए, उतना अच्छा है। (बात पलटते हुए) ऐसा न सोचिएगा कि बहुत पूछताछ कर रहा हूँ, पर डॉक्टर साहब, ये कैसी तस्वीरे हैं, जो यहाँ लगी हुई हैं ? ज़्यादातर की सूरत तो मैतै की नहीं लगती !

डॉ. केबा- ये खुराइबुङो ! ये कुछ पहाड़ी युवतियों के चेहरे हैं, कुछ मैतै लोगों के भी हैं। इन्हें नागालैंड, मिजोरम और मणिपुरी चेहरे पसंद नहीं थे। इसलिए ऐसे बनाए गए कि या तो दिल्ली, कलकत्ता और लंदन जैसे लगें या फिर हॉलीवुड जैसी सूरत दिखाई दे। अब तो यह बाएँ हाथ का खेल हो गया है। साइंस इतनी आगे बढ़ गई है कि जैसी चाहे, वैसी सूरत बना डालो। जैसे इंजीनियर कम्प्यूटर पर प्रोग्राम तैयार करके सुन्दर-सुन्दर घर, सुन्दर-सुन्दर बिल्डिंग तैयार करते रहते हैं, उसी तरह इंसानों के चेहरों में भी कई तरीकों से नयापन लाया जा सकता है। इतना विकास हो चुका है खुराइबुङो !

पकचाओ- अचरजों से भरा है इंसान भी। इंसानों के बनाने से ही देवता बनते हैं, यही साबित हो रहा है। पर डॉक्टर मेरे मन में एक शंका है।

डॉ. केबा- बताइए, मैं भी सुनूँ !

पकचाओ- बनाते समय बिगड़ जाने से शेर का मुँह, बन्दर के मुँह जैसा निकल आए, तो क्या होगा? मेरा मतलब शबी के चेहरे को तो कोई पसंद नहीं करेगा।

डॉ. केबा- शुभ-शुभ बोलो खुराइबुङो ! ईश्वर करे, कभी ऐसी गलती न हो। कोई भी इंसान गलती नहीं करना चाहता। सब अच्छे के लिए ही तो करते हैं।

पकचाओ- हाँ, लेकिन गलती किससे नहीं होती। गलती को तो संभालना होगा। दिल बड़ा करना होगा। थोड़े में संतोष करना भी आना चाहिए।

डॉ. केबा- यकीन कीजिए, इतना विकास हो रहा है कि अब तो पैदा होने से पहले से ही चेहरे को जिस ढाँचे में ढालने की इच्छा हो, ढालने की सुविधा हो जाएगी। यही सच है, यों ही बनाबनू कर नहीं कह रहा हूँ।

पकचाओ- मुझे तो सब कुछ सपना जैसा लग रहा है। आश्चर्य भरा। कुछ सच्चाई तो मैं भी जानता हूँ। इन चार-पाँच सालों में सुन्दर-सुन्दर लड़कियों और बहुओं को रास्ते चलते देख रहा हूँ। लगता है डॉक्टर, ये सब आप ही की सूरत सुधार कंपनी के उत्पादन हैं। आश्चर्य ! कितना कौशल !

डॉ. केबा- हाँ, अधिकतर मेरे यहाँ ही सुधार के लिए आते हैं। जिनको भरोसा नहीं, वे ही बाहर जाते हैं। यह भी मैं जानता हूँ। सब लोग मेरे पास ही आएँ, यह भी तो संभव नहीं। मुझसे बेहतर कोई होगा, इसका यकीन तो नहीं होता। फिर भी सबकी अपनी-अपनी पसंद है, कौन रोक सकता है।

पकचाओ- अब तो मैं सोलह आने समझ गया। पुया में जो मोइराङ थोइबी है, उसकी शक्ल से उन्नीस न हो, बीस भले हो जाए, पचास छात्राओं की सूरत ऐसी सुधारनी होगी आपको। मैं अपने दो बेरोजगार बेटों की सलाह से खम्ब-थोइबी नाम से इसी बार एक कॉलेज खोलने जा रहा हूँ। आपको भी अपना हाथ थोड़ा जल्दी चलाना होगा। कुछ खम्ब भी तैयार करने हैं। ऐसा हो गया, तो कॉलेज भरा-पूरा हो जाएगा। छात्र-छात्राओं की कमी नहीं रहेगी। बड़ा भारी कॉलेज लगने लगेगा। रेकार्ड टूट जाएगा।

डॉ. केबा- वक्त का इंतज़ार कीजिए। धीरज रखिए। जल्दी ही अब मणिपुर के सारे युवक-युवतियाँ खम्ब-थोइबी बनने ही वाले हैं। इससे ज्यादा खुशी की बात क्या हो सकती है। (ठठा कर हँसता है।)

पकचाओ- पर डॉक्टर ! खम्बाओं की संख्या थोइबियों की संख्या से ज़्यादा हो जाए, ऐसा नहीं चाहता। इसकी वजह है। अगर थोइबियाँ संख्या में खम्बाओं से ज़्यादा हो गईं, तो गड़बड़ हो जाएगी। सारी थोइबियाँ एक-दूसरे के बाल नोचने लगेंगी। नहीं क्या डॉक्टर साहब ! तो फिर, क्या नोङबान जैसे भी कुछ बना देना उचित नहीं रहेगा !

डॉ. केबा- फिर तो, थोङलेन जैसे कुछ चौकीदारों को यहाँ-वहाँ तैनात किए रखना होगा। सच नहीं क्या खुराइबुङो !

पकचाओ- सही है डॉक्टर। आप तो बुद्धिमान हैं , इसीलिए इतने प्रसिद्ध हैं।

डॉ. केबा- खुराइबुङो, कहीं आप तारीफ करके पंख तो नहीं नोच रहे !

पकचाओ- एः एः कैसे, मेरी ऐसी क्या मजाल भला !

डॉ. केबा- आपसे मिलकर बहुत खुशी हो रही है। मेरी खुशकिस्मती है। कोई खास काम न हो, तो बैठिए, चाय बुलवाता हूँ।

पकचाओ- बैठता हूँ डॉक्टर, बुरा न मानिएगा। अपनी कुछ जिज्ञासाएँ भी शांत करूँगा।

डॉ. केबा- बुरा क्यों मानूँगा, आप कहिए, जितना जानता हूँ, ज़रूर जवाब दूँगा।

पकचाओ- आप जो शक्ल बनाने के नाम पर सूरतें ठीक करते हो, क्या वह चमड़ी के टुकड़े और पपड़ियाँ उखाड़कर ठीक करते हो ! यह तो बड़ा अचरज भरा काम है।

डॉ. केबा- आपको थोड़े शब्दों में बताऊँ, इस टेकनीक को प्लास्टिक सर्जरी कहते हैं । इसका फैलाव बहुत ज़्यादा है । इसमें केवल चेहरे को या आँखों को या नाक को ही सुन्दर बनाने की बात नहीं है, बल्कि शरीर का कोई भी अंग हो सकता है। अनजान लोग समझते हैं कि इसमें प्लास्टिक या रबड़ का इस्तेमाल होता है। ऐसा नहीं है। हाँ, अगर बहुत स्पेश्यलाइज़्ड तत्व हो, जो इंसान के अनुकूल बन जाए, उसका इस्तेमाल हो सकता है। बहुत उपयोगी, सुन्दर और आनंददायक सुधार और निर्माण के काम को हम प्लास्टिक सर्जरी के नाम से जानते हैं। आप समझ रहे हैं न !

पकचाओ- थोड़ा तो समझ में आ रहा है। थोड़ा भ्रमित करने वाला भी है। सब अचरज भरा है।

डॉ. केबा- इसके बारे में और गहराई से जानकारी लेनी हो, तो आप ऐसा करें कि मेरी एक किताब प्रकाशित होने वाली है, उसकी समीक्षा करें, शोध करें। जन साधारण के लिए आसान होगा और उपयोगी भी। ज्ञानवर्धक होगा।

पकचाओ- किताब का दाम कितना रखा है !

डॉ. केबा- पहले दाम पर मत जाइए। किताब का गुण समझ में आ जाए, तो फिर क़ीमत तो कुछ भी महसूस नहीं होती । बातें तो हमारी खूब हो रही हैं। आपका मन भी लग रहा है। मगर, आपका शुभ नाम जानने का इच्छुक हूँ, निवास स्थान भी बताएँ। किताब प्रकाशित होते ही उसकी एक प्रति आपको अवश्य भेंट करूँगा ।

पकचाओ- एह ! बातों में ऐसा उलझा रहा कि अपना नाम बताना भूल ही गया। क्या मुसीबत है। मेरा नाम पकचाओ है, वाङखै का रहने वाला हूँ। लोहे के खिड़की, दरवाजे, गेट आदि बनवाता हूँ। वेल्डिंग करता हूँ। दोनों बेटे एम. ए. हैं, पर बेरोजगार हैं। खम्ब-थोइबी के नाम से एक कॉलेज खोलने का सपना देख रहा हूँ। पहले बता चुका हूँ, बेटी एक ही है। वह भी एम.ए., बी.एड. है। बेरोजगार पार्टी है।

डॉ. केबा- शक्ल क्यों सुधारना चाहते हैं !

पकचाओ- काम न हो, तो इंसान पागल हो जाता है। खूबसूरत न होने से शादी-ब्याह में भी मुश्किल हो रही है। अच्छा कुछ भी नहीं हो रहा। हँसी भी आती है। इन दिनों उसकी कुछ सुन्दर सहेलियों को सिनेमा में अभिनय करने का जोश चढ़ा हुआ है। इस कारण वह भी शक्ल सुधार कर मणिपुर फिल्म सोसाइटी की किसी फिल्म में अभिनय करना चाहती है।

डॉ. केबा- पढ़ी-लिखी जवान लड़की, स्वर्ण-पदक पाने वाली ! और अब एक्टिंग में जान देने जा रही है !

पकचाओ- कलम की मदद से जीविका कमाने का कोई रास्ता नहीं है। शक्ल की मदद से पेट भरने का उपाय कर रही है डॉक्टर !

डॉ. केबा- यह तो बड़ी विकट समस्या है, अब क्या होगा ! सुन कर हँसी भी आती है और
दुःख भी होता है। अखबारों में और दूसरी जगह रोजगार के इश्तिहार छपते रहते
हैं। आपने देखा नहीं ! क्या काम में भी नखरे दिखाती है !

पकचाओ- अखबारों की सूचनाओं को मैं मानता नहीं। अन्दर ही अन्दर काँटे लगे होते हैं। न तो हाथ में पैसा है और न ऐसी संगति। हमारी जैसी हैसियत वालों की क्या मजाल कि उसमें घुसने का बौंत भी लग जाए !

डॉ. केबा- ये तो है, पता नहीं क्या होगा ! ऐसा काम कहाँ, जिसका पिछवाड़े का दरवाजा
बन्द न हो, खिड़कियाँ बन्द न हों। ऐसा काम, जो दीवार में सेंध लगा दें। काम,
काँटेदार काम, छल से भरा, बेईमानी का काम। इसलिए काम करना कठिन है।
अस्स ! सत्यानाश हो ! समय ही अजीब है !

पकचाओ- एक दिन भी ऐसा नहीं जाता, जिस दिन नौकरी के लिए इन्टरव्यू नहीं होता – पर काम एक जगह भी नहीं बनता। पूरे मोहल्ले के सामने लज्जित हूँ। व्यवस्था करने वाले भी अखबारों में या अन्य जगहों पर, मानो रामायण का स्वर्ण-मृग छोड़ कर पकड़ने के लिए मुद्राएँ बनवाते हैं। हम मूर्खों के आगे माया-सी फैलाते हैं। लेकिन अब मूर्खों की तरह नहीं रहा जा सकता, चुप नहीं रहा जा सकता।

डॉ. केबा- खुराइबुङो, आप भी रुपयों की थैली लेकर स्वर्ण-मृग को वश में कर लेते,
तो अच्छा होता।

पकचाओ- रुपया ! इबुङो रुपया ! वही रुपया तो ! इसी कारण तो दिल जलता है। सामान की नीलामी की तरह नौकरी की भी नीलामी लगे, तो हम जैसे साधारण लोग क्या आशा रखें !

डॉ. केबा- इस बार काम में कोई गड़बड़ी न हो, इसलिए पहले ही जन्मपत्री दिखा लीजिएगा। पूजा-पाठ से उपाय निकलता हो तो वह भी कर लें। वक़्त भी बरबाद न हो और इज्जत भी बनी रहे।

पकचाओ- आजकल के इंसान शील-सभ्यता भूल चुके हैं। बस मैं जिंदा रहूँ, बाकी अपनी खुद जानें, इसी जुगत में रहते हैं। अच्छा आदमी चिराग लेकर ढूँढने पर भी नहीं मिलेगा।

डॉ.केबा- नौकरी के लिए मौके की तलाश में और समय गुजारने के लिए पी-एच.डी. करवाना कैसा रहेगा !

पकचाओ- उसके लिए भी रुपया तो चाहिए ही डॉक्टर ! नहीं, अब नहीं करवाऊँगा, वह भी नहीं चाहती। दुःखी हो गई है वह। उसका एक भाई आई.ए.एस ट्राई कर रहा था, दिमाग इतना तेज है नहीं, इसलिए रह गया। बच्चों की माँ भी बी.ए. है। कारखाने में थोड़ा हिसाब-किताब देख लेती है। मैं भी बहुत पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, पर लोग मुझे बहुत पढ़ा-लिखा समझते हैं।

केबा- दोनों लड़के खाने-घूमने और सोने में लगे रहते हैं और काम-धन्धा कोई है नहीं। पढ़- लिख लेने के बाद हाथ गंदे करने वाले काम, छेनी-हथौड़ा उठाने, फावड़ा चलाने, येम्पाक पहनने और हल उठाकर अर्र-अर्र-ति ति करने को कहोगे तो मानेंगे नहीं। समय का फेर है, इनसे नाराज़ भी कैसे हुआ जाए !

ISSN 2454-7131

पकचाओ- हम पाँच जने। पाँच मुँह और पेट भी पाँच। देखने लायक है घर। देखो क्या हाल होता होगा !

डॉ. केबा- (जैसे अंतरंग संबंध हों) खुराइबुङो, आप खम्ब-थोइबी कॉलेज की बात कर रहे थे, उसी में किस्मत आजमाते हैं। पढ़ाने वालों की कमी नहीं है, बहुत लोग बेकार घूम रहे हैं। विद्यार्थियों की भी चिंता न करें, थोइबी मार्का लगभग तीस जनी तैयार करना शुरू करता हूँ। मैं भी मर्द हूँ, जो कहता हूँ, करता हूँ। इतना तो मैं कर सकता हूँ।

पकचाओ- बहुत-बहुत धन्यवाद डॉक्टर ! कॉलेज में आप जान डाल दें। उसे मशहूर करने में हरसंभव मदद करें। मैं भी आपके पास कस्टमर भेजूँगा। कोई कमी नहीं रहेगी।

डॉ. केबा- यही तो आपसदारी का तक़ाज़ा है कि एक-दूसरे की मदद करें।

पकचाओ- एक बात कहना चाहता हूँ डॉक्टर !

डॉ. केबा- हाँ-हाँ, कहिए, बेझिझक कहिए।

पकचाओ- आपके यहाँ काम करने वाली, जो टाइप किया करती है। उस इबेम्मा का नाम थौरानीशाबी बताया था न आपने !

डॉ. केबा- जी हाँ, थौरानीशाबी ही बताया था।

पकचाओ- वह ब्राह्मण इबेम्मा है या मैतै !

डॉ. केबा- मैतै है, लेकिन हुआ क्या !

पकचाओ- हमारे घर में रहना पसंद करे, तो मेरा बड़ा बेटा बहुत खुश हो जाएगा।

डॉ. केबा- यह काम तो मेरे बस का नहीं है। आप उसी से पूछ लीजिए, बाहर बुलाऊँ !

पकचाओ- नहीं-नहीं रुकिए। मैं तो यूँ ही कह रहा था।बाद में बात कर लूँगा। सोच रहा था, संभव हो तो हमारे घर रहते हुए कॉलेज की देखभाल भी करे।

डॉ. केबा- वह रिसेप्शनिस्ट के रूप में अध्यापकों पर नज़र रखे, तो वाकई कॉलेज अदभुत बन जाएगा।

पकचाओ- एक और सवाल !

डॉ. केबा- जो भी पूछना हो, पूछिए। मुझे खुशी ही होगी।

पकचाओ- इबुङो डॉक्टर, आपकी शादी तो नहीं हुई न !

डॉ. केबा- नहीं हुई। अपने को झंझट से दूर रखने के लिए मैंने इसका ठेका अपनी भाभी को दे रखा है।

पकचाओ- संभव हो, तो यह ठेका भी मैं लेना चाहता हूँ।

डॉ. केबा- आपका शक्ल सुधारना, काम ढूँढना, बहू देखना और मेरी शादी, ये सब एक-दूसरे से जुड़े हुए तो नहीं हैं ! आपस में सब गड्डमड्ड दिख रहे हैं।

पकचाओ- हर तरफ अभाव ही अभाव होने से मेरा सिर चकरा रहा है। इसलिए डॉक्टर, आपकी भाभी से भी मैं बात करना चाहता हूँ।

डॉ. केबा- वे तो ऑफिस गई हुई हैं। बाद में इत्मिनान से मिलिएगा।

पकचाओ- तो फिर मैं बातों को समेटता हूँ। वह लड़की, मेरी कुँवारी बेटी, मेरी अमूल्य संतान, बहुत लाडली है। सोच रहा हूँ, किसी अच्छे लड़के, यानी आप जैसे ही किसी डॉक्टर से उसकी शादी हो जाए, तो मुझे चैन मिले।

डॉ. केबा- स्वाभाविक है। माता-पिता अपनी बेटियों की चिंता करते ही हैं। ज़माना ही ऐसा है। अच्छा लड़का मिलना भी मुश्किल है। एक-दूसरे को पसंद कर शादी कर लें, तो दूसरी बात है। आपको खुराइबुङो किस तरह का लड़का पसंद है ! पैसे वाला, पढ़ा-लिखा, सुन्दर, मेहनती। जरा विस्तार से बताइए तो अच्छा रहे।

पकचाओ- (जैसे सब समझ गया हो) गरीब होने पर भी बड़े दिल वाला हो, सभ्य और संवेदनशील हो। सड़क पर, पीपल के चबूतरे पर, चाय की दुकान पर फिज़ूल की बातें करने वाला न हो। जमाने का चलन ठीक से जानता हो, पर किसी नशे का सेवन करने वाला न हो। आमदनी अठन्नी, फिर भी सीना निकाल कर खाने-पीने की दुकानों से उधार में सामान न उठाता हो। (इतने में थौरानीशाबी अकेली खिक्-खिक् कर हँस पड़ी) क्या हुआ इबेम्मा, तुम्हें बहुत हँसी आ रही है ! हँसना है, तो सब मिलकर हँसते हैं, बाहर आ जाओ ।

डॉ. केबा- थौराननीशाबी, बाहर आ जाओ। सब मिलकर हँसते हैं। अकेले-अकेले हँसना अच्छा लग रहा है क्या तुम्हें !

थौरानीसाबी- ठीक हूँ, अन्दर ही अकेले हँस लेती हूँ। अकेले-अकेले हँसना जानती हूँ मैं। (फिर हँसती है, पर देर तक नहीं।)

पकचाओ- शायद मेरी बातें मजाक लग रही हैं। पर इनमें है बहुत प्वाइंट। तुम्हारा जानना फायदेमंद रहेगा। आ जाओ, यहाँ आकर सुनो। तुम लोगों के लिए ही हो रही हैं।

थौरानीशाबी- (अन्दर से ही) मैं यहीं से सुन रही हूँ, खुराइबुङो। काम नहीं छोड़ सकती।

डॉ. केबा- कोई बुजुर्ग कुछ कह रहा हो, तो क्या सुना नहीं जाता कि वह क्या कहना चाहता है !

पकचाओ- (बात आगे बढ़ाते हुए) समय ही ऐसा आ गया है। आज हम जैसे लोगों को पागल ही समझा जाता है। हमारी कोई जगह नहीं। बड़ों की बात सुनने वाला हो, शांत हो और अस्थिर मन का न हो। नाम वाला भी हो और थोड़ा पैसे वाला भी। ये सब मेरी पसंद के अन्तर्गत आएँगे। इसके ऊपर लोकप्रिय भी हो, मोहल्ले के अच्छे लोगों में उसकी गिनती होती हो। गृहस्थ-जीवन में उल्टा-

सीधा कुछ न करता हो। मेरा मतलब है, लुहोङफान पर दो बार बैठने के बारे में न सोचता हो। ऐसा खरा सोना पाना चाहता हूँ।

(थौरानीशाबी फिर से हँसने लगी)

डॉ. केबा- (बात में सहयोग देते हुए) खूब अमीर भी हो,पढ़ाई-लिखाई में बहुत होशियार हो। शक्ल-सूरत भी दीवाना बना देने लायक सुन्दर हो और कार में बैठाकर रोज-रोज घुमाने वाला हो। बहुत मेहनती भी हो। और, दूर-दूर तक ख्याति प्राप्त मणि के बारे में क्या ख़्याल है !

पकचाओ- (हँसते हुए) संभव हो, तो ऐसा मौका पाना चाहता हूँ। रुपए-पैसे को ढेले की तरह इस्तेमाल करने वाला, तरह-तरह के नशे की लत वाला, बार-बार अस्पताल में भर्ती होने वाला व्यक्ति मन को कम ही भाता है। हाँ, एक और बात, स्त्री की उँगलियों पर नाचने वाले या बिना वजह स्त्री-बच्चों पर हाथ उठाकर मर्दानगी दिखाने वाले को मैं आदमी ही नहीं मानता।

डॉ. केबा- बातों में आनंद तो आ रहा है, पर बात दूसरी ओर बढ़ रही है। काम की बात करते है। आपकी बेटी की शक्ल-सूरत सुधारने के बारे में।

पकचाओ- (बहुत इत्मिनान से) डॉक्टर साहब, आप ही ऐसी शक्ल-सूरत तैयार कीजिए, जैसी पहले किसी की न रही हो। एक नए डिजाइन में मेरी बेटी की शक्ल ऐसी हो जाए कि वह सिनेमा में काम पाने लायक बन जाए, यही चाहता हूँ। ऐसी सुन्दर बना देनी है कि लोगों की आँखें चौंधिया जाएँ। लोग दीवाने हो जाएँ। अपना होशो-हवास खो बैठें।

डॉ. केबा- विचार-विमर्श बहुत जरूरी है। हर पक्ष पर विचार जरूरी है। पर, शक्ल सुधारने में पैसा खूब लगता है। खुराइबुङो, आप तो बता रहे हैं कि आप पैसे वाले भी नहीं है। मैं अपना मेहनताना छोड़ भी दूँ, तो और दूसरी बहुत सारी मदें हैं- दवाइयाँ, औजार और स्टाफ आदि-आदि। इसलिए क्या जड़ से सुधारना अच्छा न होगा। (थौरानीशाबी से) सुन रही हो थौरानीशाबी, जरा खोपड़ियाँ बाहर लाना। मैं खुराइबुङो को कुछ दिखाना चाहता हूँ।

थौरानीशाबी- (अन्दर से) हाँ, हाँ लाती हूँ। बुजुर्ग हैं, कही डर न जाएँ !

पकचाओ- पैसे का क्या है, उधार में जितना भी खर्च हो जाए। तीन फ़िल्में मिल जाएँगी तो सारी उधारी चुका देंगे। आप मुझ पर कृपा बनाए रखें, प्रेम बना रहे। नहीं तो मेरे जीवन से यह कष्ट दूर नहीं होगा।

थौरानीशाबी- (कंकाल-खपड़ी को टेबल पर कोद्रोक की आवाज़ के साथ रखती है।) लीजिए, अब जादू-मंत्र शुरू कर सकते हैं।

डॉ. केबा- (खोपड़ी पर कलम से टक-टक बजाते हुए) देख रहे हैं न यह खोपड़ी ! देखिए, डरिए नहीं। न हिचकिचाइए। यह इंसानों की खोपड़ी है। बेजान है। जब इसमें जान थी, तब कितने ही युवक स्कूल में, कॉलेज में, बीच बाजार में और थाबल चोङबा में लाज-सरम छोड़ कर इसका पीछा किया करते थे। उस सुन्दर युवती के सौन्दर्य की परिणति है यह। जिनके सिर पर बाल न हों, दो आँखें भी न हों, कर्णफूल पहनने के लिए कान न हों, मुस्कराते होंठ गायब हो जाएँ, तो हम इंसान उन्हें पसंद नहीं करते। वे हमें डरावने लगने लगते हैं। उनसे घृणा होने लगती है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि सभी सुन्दर इंसानों का अंत इसी रूप में होता है। इसलिए कुरूपता या सुन्दरता के लिए मन को दुःखी नहीं करना चाहिए। दो पैर, हाथ, आँख, कान, नाक वाला कोई सुन्दर चेहरा हो, तो ही हम उसे आदमी नहीं कहते। इंसान नहीं होता वह। इंसान के रूप में जन्मे हो, तो इंसानियत को न भूलकर अच्छा काम करते हुए अपना नाम छोड़ जाना नहीं चाहते क्या आप, खुराइबुङो !

पकचाओ- (थोड़ी देर सोचने के बाद) प्रसिद्धि, अपना नाम अमर होने को कोई नापसंद नहीं करता। परन्तु पैसा न हो और काम भी न समझ पाए तो करें क्या ? काम पड़ता है तो बिना पैसे के कुछ भी नहीं हो पाता। पैसे के बगैर इंसान जिंदा नहीं रह सकता। जब जीने के लिए ही संघर्ष करना पड़े तो नाम के बारे में सोचने का समय ही नहीं होता।

डॉ. केबा- इसीलिए बेकार में क्यों पैसा बरबाद करें। ईश्वर ने जो शक्ल दी है, उस पर रुपए लगाने की क्या जरूरत है।इससे अच्छा उन सारे रुपयों को जीने के लिए किसी काम में लगाना ज्याद अच्छा होगा मेरे ख्याल से।

पकचाओ- (उलझन में) पता नहीं क्या किया जाए ! इबुङो आप जो बातें कह रहे हैं, वे सही तो हैं। डॉक्टर इबुङो, आपके यहाँ उसे छोटी सी नौकरी मिल जाए तो, बहुत अच्छा हो । आपको भी पुण्य मिलेगा। ऐसी आकर्षक भी नहीं है , कोई काम भी न मिला, तो शादी नहीं हो पाएगी उसकी।

डॉ.केबा- मेरे यहाँ तो काफी स्टाफ है और काम भी ऐसा नहीं कि उसे अच्छा लगे। (दुःखी होने का दिखावा करते हुए) खुराइबुङो, क्या आपकी बेटी वाकई इतनी बदसूरत है ! एक बार सामने होती तो बात कुछ समझ में भी आती।

पकचाओ- ऐसा है, तो मैं उसे क्या तुरंत बुला लाऊँ !

डॉ. केबा- नहीं, बाद में इत्मिनान से ले आइएगा।

पकचाओ- (जेब टटोलते हुए) कुछ तस्वीरें हैं, इन्हें देख लेंगे, तो क्या ठीक न रहेगा ! (जेब

से तस्वीरें निकालकर) हाँ-हाँ, ये रहीं ..... यह केवल चेहरे की खींची हुई है। यह पूरा देखिए, देखिए डॉक्टर।

डॉ. केबा- (आश्चर्य और अविश्वास के साथ) इस्स ! यह! यह उसी की फोटो है ? अस्स इतनी सुन्दर ! (अपने आप से) यह कोई चित्रकारी है या किसी जीती-जागती की तस्वीर! कोई वास्तव में इतनी सुन्दर भी हो सकती है! इस पर लोग दीवाने हो जाएँगे। बहुत मारे जाएँगे। झूठ नहीं बोल रहा। स्वर्ग की अपसराएँ भी इसके सामने लज्जित हो जाएँगी। इतनी सुन्दर है यह तो और आप खुराइबुङो न जाने क्या-क्या कह गए। आज तक जितने लोगों को मैंने बनाया है, उनमें इतना सुन्दर कोई नहीं निकला। आश्चर्य ! मुझे तो सपना सा लग रहा है। मैं तो न जाने क्या-क्या सोच रहा था और निकला कुछ और। मैं तो शर्मिंदा हो गया हूँ, बहुत शर्मिंदा।

पकचाओ- इबुङो, आप मुझे खुश करने के लिए यूँ ही तो नहीं बोल रहे !

डॉ. केबा- खुराइबुङो, मुझे बड़ी लज्जा महसूस हो रही है। मैं आपको गलत समझ रहा था। मैं इतने छोटे मन का कैसे हो गया। हमारी थौरानी देखेगी, तो सुधबुध खोकर गिर पड़ेगी। अरे आओ, थौरानी ! थौरानीशाबी तुम्हें ही बुला रहा हूँ, आकर कुछ देख तो लो। देखकर होश न खो बैठना !

थौरानीशाबी- (अन्दर से) मैं बाद में देख लूँगी, आप सब देख लें।मेरा सिर चकरा रहा है। थोड़ी देर बिस्तर पर आराम करूँगी।

पकचाओ- गौर से देख लें डॉक्टर, सब ठीक से समझ लें। ठोढ़ी, गाल, आँख, नाक, कनपटी, माथा या होंठ, कहीं न कहीं तो दोष निकल ही आएगा।

डॉ.केबा- इसके आगे देखना मेरे बस का नहीं है। मेरा काम यहीं खत्म हो जाता है।

पकचाओ- मैं भी नहीं समझ पा रहा हूँ डॉक्टर, मेरी बेटी को आप यहाँ रख लेते, तो कुछ समझ भी आता। वह रोज दिखाई देगी, आप ध्यान देंगे, तो कोई न कोई दोष पकड़ ही लेंगे। मेरी बेटी का कहना है कि उसके होठों के पास जो तिल है, उसी से ज्यादा परेशानी है।

क्या इसे हटा नहीं सकते, डॉक्टर !

डॉ.केबा- इसी तिल पर ही तो सब दीवाने हैं, खुराइबुङो। इसी ने तो उसकी सुन्दरता में चार चाँद लगा दिए हैं । यह तिल फैल नहीं रहा है, तो रहने दीजिए। हटा देने के बाद सौन्दर्य कम हो गया तो सब हाथ मलते रह जाएँगे। मैं भी नासमझ कहलाऊँगा। मैं तो अपनी बात कर रहा हूँ। इस पर हाथ लगाने के लिए कुछ भी नहीं रह जाता।

पकचाओ- जरा और बारीकी से देखिए डॉक्टर !

डॉ. केबा- दूसरों का मत तो मैं नहीं जानता। मेरे विचार से तो अब हाथ लगाने के लिए कुछ भी नहीं बचा है। इससे अच्छा, इसकी नौकरी के बारे में आज रात मुझे कुछ सोचने दीजिए, नहीं तो मैं भी अधर्मी कहलाऊँगा। थौरानी माने या न माने, मैं तैयार हूँ। पुरुष हूँ, थोड़ा पावर मैं भी इस्तेमाल कर सकता हूँ।

पकचाओ- बहुत अच्छा, बहुत अच्छा डॉक्टर! आपका बहुत-बहुत धन्यवाद। मेरी बेटी को एक जगह देने के लिए। तुम्हारी भी खूब प्रगति हो। डॉक्टर, मैं आपका ऋणी हो गया हूँ। आपको खाने पर बुलाना चाहता हूँ। कभी आइए, अपने साथ थौरानी को भी लाइए। दोनों जरूर आइएगा।

डॉ. केबा- जी जरूर आएँगे। इतने प्रेम से कह रहे हैं, तो जरूर आएँगे।

पकचाओ- बहुत अच्छा चुरुट है। डॉक्टर बाबू, आप चुरुट पीते हैं !

डॉ. केबा- जी नहीं, पहले कभी पीता था, अब छोड़ दिया। सब कुछ छोड़ दिया।

पकचाओ- तो ठीक है, मैं चलता हूँ। पकचाओ के कारखाने के नाम से ढूँढिएगा वाङखै बाजार में कोई भी बता देगा। मेरी बेटी का नाम मतौलैबी है। मशहूर तो वो काफी है। तारीफ़ नहीं कर रहा। उसका गाना सुनिएगा। नाचती भी बहुत बढ़िया है। बाद में पता चल ही जाएगा।

डॉ. केबा- खुराइबुङो, आपका भाग्य तो बहुत अच्छा है। एक कॉलेज भी शुरू करने वाले हैं। पैसा भी आ ही जाएगा। (थौरानीशाबी से) सुन रही हो थौरानी, खुराइबुङो जाने वाले हैं। एक बार बाहर आ जाओ।

पकचाओ- इबेम्मा सुन्दरी, मैं चाहता हूँ कि तुम भी डॉक्टर के साथ आओ। भूलना नहीं इबेम्मा।

डॉ. केबा- वह जवाब नहीं देगी, आप जाइए। उसे चक्कर आने वाली एक बीनारी है। मैं उसे लेकर जरूर आऊँगा। (थौरानीशाबी से) थौरानी, थौरानीशाबी, तुम सुन रही हो !

थौरानीशाबी- (थोड़े अन्तराल के बाद) जी कहिए, मैं यहाँ हूँ।

डॉ. केबा- जवाब देने में थोड़ा और वक्त ले लेती तो अच्छा होता।

थौरानीशाबी- बताइए क्या बात है !

डॉ. केबा- कंघी-शीशा लाना जरा, एक बार अपनी शक्ल तो देख लूँ। बहुत दिन हो गए देखे हुए। थौरानीशाबी- कंघा भी टूट गया और आइना भी चटक गया। क्या करेंगे !

डॉ. केबा- शुरू हो गई अपनी आदत के अनुसार। ऐसा है, तो टेबल पर से चुरुट का पैकट तो ले आओ, एक सिगरेट तो पी लूँ।

थौरानीशाबी- सिगरेट भी खत्म। यह तो खाली डब्बा है।

डॉ. केबा- तो तुरन्त जाओ, स्कूटर ले जाओ और बाजार से एक पैकेट खरीद लाओ।

थौरानीशाबी- अभी तो आपने कहा था कि सिगरेट पीना छोड़ दिया है।

डॉ. केबा- वह तो थोड़ी देर अच्छा बनने के लिए था। तुम इतनी सुस्त सी क्यों लग रही हो, क्या हुआ !

थौरानीशाबी- (बहुत ज्यादा दुःखी होकर, शिकायत के लहजे में) आज मैं कुछ कहना चाहती हूँ, थोड़ी देर में।

डॉ.केबा- बाद के लिए न छोड़ कर अभी नहीं कह सकती क्या !

थौरानीशाबी- (हिचकी लेकर रोने लगती है।) न बाद में न अभी। कभी बोलूँगी ही नहीं। मैं बहुत दुःखी हूँ।

डॉ.केबा- क्या हुआ इसको, क्या उल्टा-सीधा बोल रही है ? दौरा पड़ा है क्या।

थौरानीशाबी- (और जोर से रोने लगती है। रोते-रोते) जान गई हूँ। मैं सबको पहचान गई हूँ। मेरे पक्ष में कोई नहीं है।

डॉ. केबा- स्थिति इतनी जल्दी बिगड़ गई, क्या करूँ।

थौरानीशाबी- (थोड़ा शांत होकर) कहने को तो कहते हैं कि सुन्दर-असुन्दर सब एक हैं, लेकिन पक्ष लेते हैं सुन्दर लोगों का।

डॉ. केबा- अब छोड़ो भी। अपना रवैया तो देखो। सचमुच किसी को ले आऊँ तो मौत ही आ जाए। क्यों !

थौरानीशाबी- (रोना बन्द हो चुका है, पर नाराज़गी से) दूसरों को बेइज्जत करने वाले काम में मन बड़ा लग रहा है। क्यों अपनी भद उड़ा रहे हो,....... मुझे तो बड़ी शर्म आ रही है।

डॉ. केबा- आजकल सच बोलने वाला बेवकूफ नहीं बनता क्या ! वक़्त और जगह के हिसाब से झूठ बोलूँगा भी और नहीं भी बोलूँगा। एकाध बार मेरे झूठ बोलने से तुम्हारा क्या जा रहा है !

थौरानीशाबी- चाहती हूँ कि आप सभ्य बने रहें, इसलिए कह दिया। लोगों को मालूम हो जाने पर मुँह दिखाने के काबिल रह जाएँ, तो किसी के झूठ बोलने से मेरा क्या बिगड़ जाएगा। छोड़िए, लोगों को मार डालने वाला कोई काम मत कीजिए।

डॉ. केबा- अगर ऐसा है, तो मैंने जब झूठ बोलना शुरू किया था, उस समय उसे मज़ाक में बदलकर ब्रेक क्यों नहीं लगा दिया !

थौरानीशाबी- मैं तो काफी देर तक सोचती रही कि अब मजाक खुलेगा, पर आप सच बनाकर बोलने लगे तो मुझे आपका मान रखना पड़ा। वह बूढ़ा भी क्या था और आपका भी क्या कहना ! राम मिलाई जोड़ी।

डॉ. केबा- इंसान को देखकर चलना चतुराई कहलाता है न !

थौरानीशाबी- चतुर बनने के चक्कर में कभी किसी सिरफिरे से सामना हो गया, तो डंडे पड़ेंगे या शर्मिंदगी उठानी पड़ेगी।

डॉ. केबा- वह बुज़ुर्ग भी सारी बातें तो जानकर आया नहीं। कितना सरल और सहज था, कितना प्यारा था। अच्छा कहीं ऐसा तो नहीं कि मैं शादीशुदा हूँ, यह जानते हुए भी आ गया... तुम्हें क्या लगता है ! उसके लिए सोचकर तो दुःख हो रहा है, बेचारा!

थौरानीशाबी- शादीशुदा किसी आदमी को कोई बाप अपनी बेटी नहीं देना चाहता। होगा भी तो बिरला ही होगा। वास्तव में कोई होगा, तो उसे पुरस्कार दिया जाना चाहिए।

(अकेली हँसते हुए) मुझे भी बहू बनाने की इच्छा जाहिर कर रहा था। जिंदा रहो तो क्या-क्या देखने को नहीं मिलता। (फिर हँसने लगती है)

डॉ. केबा- तुम्हें भी बहू बनना है, तो बन जाओ। फिर मैं भी उसकी सुन्दर बेटी से......।

थौरानीशाबी- ऐसा कहते हुए शर्म भी नहीं आती। (लम्बा निःश्वास छोड़कर) पता नहीं.... मुझे भी मतौलैबी से सुन्दर होने के लिए फिर से शक्ल सुधारने की जरूरत है शायद !

डॉ. केबा- फिर से सँवारने के चक्कर में और भद्दी हो गई तो बेकार में ! सँवर-सँवर कर बन्दरिया जैसी हो गई तो क्या फ़ायदा। मैं तो कुछ करूँगा नहीं।

थौरानीशाबी- सुन्दर बनाना है या बदसूरत वह तो तुम्हारे हाथ में है। दूसरों का काम बिगाड़कर संतोष कर लेना भले लोगों का काम नहीं है। भगवान भी साथ नहीं देगा।

डॉ. केबा- बताओ तो, मतौलैबी को, उस बुज़ुर्ग की बेटी को कोई छोटा-मोटा काम दे-दें तो उसका बेटा थोड़ी राहत का अनुभव करेगा। उसे भी अच्छा ही लगेगा। इतनी सुन्दर, ऊपर से खूब पढ़ी-लिखी, फिर भी बिना कोई काम किए रह गई तो आगे से कोई युवा पढ़ाई नहीं करेगा। पागलपन में नशे में डूब कर गलत रास्तों पर चल पड़ेगा।

थौरानीशाबी- मैं क्या कहूँ ! जो करना है करो। मैं तो चुपचाप पड़ी रहूँगी,तमाशबीन बनकर।

डॉ. केबा- तो थोड़ी देर उनके यहाँ घूम आएँ ! चाय पियेंगे, गाना सुनेंगे। लौटते हुए तुम्हारी पसंद की कोई चीज खरीद लेंगे। क्या कहती हो, तुम्हें अच्छा नहीं लग रहा!

थौरानीशाबी- मुझे कोई खुशी नहीं हो रही। मुझे कुछ चाहिए भी नहीं। न किसी को रोक ही सकती हूँ।

डॉ. केबा- इतनी छोटी क्यों बन रही हो ! अपना दिल बड़ा करो इबेम्मा।

थौरानीशाबी- (दुःखी हृदय को बिना दिखाए) फोटो पर दीवाने इबुङो! सेहरा बाँधकर जाइए, हाथ में वरमाला लिए इंतजार कर रही होगी !

(पटाक्षेप पर तबला वादन- ताङ-ताङ)

[आकाशवाणी इम्फाल से 5 मई 1972 को रात 7: 45 बजे पुनर्प्रसारित]

(अनुवादक हिंदी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय, मणिपुर में प्राध्यापक हैं।)

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997 क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)
ज्ञान शांति मैत्री
अनुवाद अध्ययन विभाग
अनुवाद एवं निर्वचन विद्यापीठ
प्रवेश संबंधी विस्तृत जानकारी के लिए संपर्क :-
विभागाध्यक्ष/संकायाध्यक्ष
अनुवाद अध्ययन विभाग
अनुवाद एवं निर्वचन विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997 क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
पोस्ट : गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र), भारत
फोन : 07152-232984, ई-मेल : translation.tech2014@gmail.com वेबसाइट : www.hindivishwa.org

ISSN 2454-7131

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

परिचय : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की स्थापना वर्ष 1997 में हुई। विश्वविद्यालय का उद्देश्य साधारणतः हिंदी भाषा और साहित्य का संवर्धन और विकास करना, विद्या की सुसंगत शाखाओं में शिक्षण और अनुसंधान की सुविधाएँ प्रदान करना, हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में तुलनात्मक अध्ययनों और अनुसंधान के सक्रिय अनुसरण की व्यवस्था करना, देश और विदेश में सुसंगत सूचना के विकास और प्रसारण के लिए सुविधाएँ प्रदान करना, हिंदी की कार्यात्मक प्रभावशीलता में सुधार करने के लिए अनुवाद, निर्वचन और भाषा विज्ञान आदि क्षेत्रों में अनुसंधान, शिक्षण और प्रशिक्षण कार्यक्रमों की व्यवस्था करना, विदेशों में हिंदी में अभिरूचि रखने वाले हिंदी विद्वानों तथा समूहों तक पहुँचना और प्रशिक्षण तथा अनुसंधान के लिए उन्हें विश्वविद्यालय से जोड़ना है। वस्तुतः भारत के ज्ञानाधार को और अधिक सुदृढ़ करने की आवश्यकता है, जिसके लिए इस विश्वविद्यालय द्वारा नित नूतन विकल्प तलाशे जा रहे हैं ।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में भाषा, साहित्य, अनुवाद एवं निर्वचन, संस्कृति, मानविकी और समाज विज्ञान तथा सृजन विद्यापीठ कार्य कर रहे हैं, जो हिंदी के माध्यम से विविध ज्ञानानुशासनों में शिक्षण एवं शोध की सुविधाएँ उपलब्ध कराने के लिए प्रतिबद्ध हैं।

अनुवाद अध्ययन विभाग :

वैश्वीकरण के इस दौर में राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर दिन–प्रति दिन अनुवाद की महत्ता बढ़ती जा रही है । इसे बहुआयामी एवं स्वायत्त अनुशासन के रूप में पहचान मिल चुकी है, इसीलिए इस विश्वविद्यालय में अनुवाद एवं निर्वचन विद्यापीठ प्रारंभ हुआ । यह विद्यापीठ समस्त विश्वविद्यालयों में अद्वितीय है और इसके अंतर्गत कार्यरत अनुवाद अध्ययन विभाग देश का एकमात्र ऐसा विभाग है, जो अनुवाद की तकनीकी, प्रणालीगत और रोज़गारपरक संभावनाओं को यथार्थ में परिणत करने के लिए सतत प्रयासरत है।

विभाग के उद्देश्य :

- हिंदी को अनुवाद के माध्यम से राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक समृद्ध भाषा बनाना।
- हिंदी में मशीनी अनुवाद प्रणाली का विकास करना।
- अनुवाद को अंतरानुशासनिक बोध पाठ्यक्रम के रूप में विकसित करते हुए इस आधुनिक प्रौद्योगिकी के क्षेत्र के अनुरूप बनाना।
- अनुवाद को भाषा शिक्षण की विधा के रूप में विकसित करना।
- तुलनात्मक एवं अंतरानुशासनिक शोध हेतु ज्ञान आधारित पाठ एवं साहित्य उपलब्ध कराना।
- अनुवादकों एवं निर्वचकों के कौशल विकास हेतु प्रशिक्षण की व्यवस्था करना।
- अनुवाद हेतु विविध प्रकार के शब्दकोशों का निर्माण करना।

संचालित पाठ्यक्रम :

- एम.ए. (अनुवाद अध्ययन)
- एम.फिल. (अनुवाद अध्ययन)
- पीएच.डी. (अनुवाद अध्ययन)
- अनुवाद में पी.जी. डिप्लोमा
- प्रयोजनमूलक हिंदी में पी.जी. डिप्लोमा
- निर्वचन में पी.जी. डिप्लोमा

रोज़गार की संभावनाएँ :

- राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अनुवादक एवं दुभाषिए के रूप में।
- अध्यापन के क्षेत्र में।
- राजभाषा अधिकारी के रूप में।
- बी.पी.ओ. एवं काल सेंटर में विदेशी भाषा इंटरप्रेटर के रूप में।
- पर्यटन उद्योग एवं होटल प्रबंधन के क्षेत्र में।
- अनुवाद प्रौद्योगिकी क्षेत्र में मशीनी अनुवाद और सिनेमौटिक अनुवाद का कार्य।
- फिल्म एवं टी.वी. में अनुवादक के रूप में।
- पत्रकारिता में अनुवादक के रूप में।

उपलब्ध सुविधाएँ :

- पैंतीस विद्यार्थियों के बैठने योग्य मशीनी अनुवाद कंप्यूटर प्रयोगशाला।
- दो–सौ एकड़ भूमि पर फैला वाई–फाई कैंपस।
- उच्च शिक्षित एवं अनुभवी प्राध्यापक
- ऑन लाइन पुस्तक सूची के साथ विभागीय पुस्तकालय।
- शोध–कार्य हेतु उत्तम व्यवस्था।
- समय–समय पर संगोष्ठी, कार्यशाला, प्रशिक्षण कार्यक्रम, विशेष व्याख्यान आदि का आयोजन।
- छात्रावास की व्यवस्था।